लोक संवाद

अप्रैल 2018 नई दिल्ली

बजट

बजट में गांव

बजट में मोदीकेयर (दो लेख)

विशेष

बैंक घोटाले, मोदी सरकार और पूंजीवाद

जीडीपी की बाज़ीगरी महंगी पड़ेगी

श्रम

मोदी सरकार के चार साल और श्रम कानून

शहरी मजदूर बनते नौजवान और पलायन

खेती-किसानी

विदेश से गेहूं का आयात

स्वामिनाथन कमेटी की रिपोर्ट

ईपीडब्लू का हिंदी प्रोजेक्ट

संपादकीय एक : असहयोगात्मक संघीय ढांचा

संपादकीय दो : सरकारी विश्वविद्यालय

प्रसंगवश

भूख सूचकांक, बैंक बोर्ड, एनपीए राइट ऑफ, तेल के दाम, ड्रग ट्रायल घोटाला, नोटबंदी, एयर इंडिया से जुड़ी खबरें और टिप्पणियां

साक्षात्कार

पहचान की चोरी है आधार का ख़तरा: रॉबर्ट बैप्टिस्ट का साक्षात्कार

संपादकीय

नरेंद्र मोदी के नेतृत्व में भारतीय जनता पार्टी का मई 2014 में देश की सत्ता में आना एक लिहाज से वाकई बहुत सकारात्मक रहा है। इसे ऐसे समझें कि इस सरकार ने बीते चार साल के अपने कार्यकाल में आर्थिक मोर्चे पर जैसे सही-गलत और ऊटपटांग फैसले लिए हैं, उन फैसलों ने देशवासियों की जिंदगी को बिलकुल प्रत्यक्ष और बेहद करीब से प्रभावित किया। नोटबंदी और जीएसटी को लागू किया जाना ऐसे दो बड़े कदम कहे जा सकते हैं जिनसे तकरीबन एक भी भारतीय नागरिक अप्रभावित न रहा होगा। पेट्रोल-डीज़ल के दामों में ऐतिहासिक तेज़ी और महंगाई की चर्चा तो ख़ैर पहले की सरकारों में भी होती रही है, लेकिन करों और मुद्रा से जुड़ी चर्चाएं पहली बार इस देश में गली-नुक्कड़ की बहसबाजी का विषय बनीं। यानी एक ऐसे देश में जो अंग्रेज़ी को छोड़ बाकी भाषाओं में आर्थिक मोर्चे पर सर्वथा निरक्षर हुआ करता था, मोदी सरकार ने जनता को आर्थिक साक्षर होने के लिए बाध्य कर दिया। सवाल रोज़मर्रा की जिंदगी से जुड़े थे, लिहाजा लोगों की आर्थिक समझदारी भी अपनी ही भाषा में विकसित होनी थी।

लोक संवाद का प्राथमिक उद्देश्य ही आर्थिक मसलों को हिंदी में और लोकप्रिय शैली में पाठकों के सामने रखना रहा है। हिंदी में आर्थिक विषयों पर विमर्श की समकालीन दरिद्रता का ही नतीजा है कि ऐसी सारी सदिच्छाएं अनुवाद के जटिल समुद्र में डूब जाती हैं। आज से ठीक दस साल पहले 2008 के मार्च में देश में हिंदी के बिज़नेस अखबारों का नया दौर शुरू हुआ था जिसका लक्षित श्रोता दूसरे और तीसरे दरजे के शहरों का हिंदीभाषी उपभोक्ता था। वह नागरिक, जिसे अंग्रेज़ी तो नहीं आती लेकिन जो शेयर बाज़ार और म्यूचुअल फंड में हाथ आज़माने का इच्छुक है। इकनॉमिक टाइम्स, बिज़नेस स्टैंडर्ड और बिज़नेस भास्कर जैसे तीन अखबार 2008-09 में शुरू हुए जबकि लोक संवाद काफी पहले से हिंदी में निकलता रहा है।

आज आर्थिक विषयों को हिंदी में प्रस्तुत करने की बाध्यता इस तथ्य से समझ आती है कि इकनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली जैसी अर्थशास्त्र की अकादमिक पत्रिका ने भी अपने संपादकीय हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं में प्रकाशित करने शुरू कर दिए हैं। अच्छी बात यह है कि ईपीडब्लू की अंग्रेजी सामग्री से उलट हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं की सामग्री वेबसाइट पर मुफ्त उपलब्ध है। इसकी सीमा यह है कि सामग्री मूल भारतीय भाषाओं में नहीं रची जा रही बल्कि अब भी अनुवाद पर ही आश्रित है।

भारतीय भाषाओं में आर्थिक साक्षरता के इस फैलते परिदृश्य में लोक संवाद का पुनर्प्रकाशन सामाजिक-राजनीतिक कार्यकर्ताओं के लिए एक ज़रूरी कदम है। कुछ समय तक स्थगित किए जाने से पहले लोक संवाद भी अनुवाद पर ही अनिवार्य रूप से आश्रित था, लेकिन अपनी दूसरी पारी में इसने अनुवाद पर अपनी निर्भरता समाप्त करने की सायास कोशिश की है।

प्रकाशन स्थगन के बाद ऑनलाइन जा रहे इस पहले अंक में आप पाएंगे कि अधिकांश सामग्री मूल हिंदी में रचित है। जब तक बहुत ज़रूरी न हो, अनुवाद से बचने की कोशिश की गई है। लोक संवाद का अप्रैल-2018 अंक आपकी स्क्रीन पर है। पत्रिका अपने मूल उद्देश्य को वापस हासिल करने में किस सीमा तक कामयाब हुई है यह निर्णय हम पाठक के हाथ में छोड़ते हैं।

शुभकामनाएं

विशेष

बैंक घोटाले, मोदी सरकार और पूँजीवाद

मुकेश असीम

बैंक मानव उपभोग लायक कुछ भी उत्पादित नहीं करते। पहले उनका मुख्य काम सिर्फ़ व्यापारिक गतिविधियों की विभिन्न पार्टियों के बीच तय शर्तों और वक़्त पर सही भुगतान सुनिश्चित करना और इसका सही हिसाब रखना था। साथ ही जिनके पास अतिरिक्त धन हो बैंक उसे सुरक्षित जमा रखने और ज़रूरत के वक़्त भुगतान का कार्य भी करते थे। इस उपलब्ध धन को बैंक व्यावसायिक गतिविधियों हेतु लघु अवधि के लिए क़र्ज़ के तौर पर भी देते थे। लेकिन पूँजीपतियों के बीच कम लागत पर अधिकतम उत्पादन और बाज़ार में प्रभुत्व की प्रतिद्वन्द्विता में चल-अचल पूँजी में निवेश की ज़रूरत लगातार बढ़ने के चलते, पूँजीपतियों को शेयर पूँजी में निवेश, क़र्ज़, भुगतान गारण्टियों, आदि के रूप में पूँजी उपलब्ध कराने में बैंकों की भूमिका बढ़ती गयी। अपनी उपरोक्त वर्णित भूमिकाओं से पूँजी की बड़ी मात्रा की उपलब्धता वाले बैंकों ने उद्योग-व्यापार में मध्यस्थता से आगे बढ़कर पूरी अर्थव्यवस्था पर नियन्त्रण क़ायम कर लिया है क्योंकि वही पूँजीपति प्रतिद्वन्द्विता में ठहर और आगे बढ़ सकते हैं जिन्हें बैंकों के द्वारा निरन्तर बढ़ती मात्रा में पूँजी की उपलब्धता सुनिश्चित हो। इसके एवज़ में श्रमिकों की श्रम शक्ति द्वारा उत्पादित और पूँजीपतियों द्वारा हस्तगत अधिशेष मूल्य का एक बड़ा भाग बैंकों को प्राप्त होता है। इससे उनकी पूँजी लगातार विशालकाय होती गयी है। एकाधिकार पूँजीवाद के युग में तो बढ़ते मुनाफ़े की हवस में इन्होंने पूरी अर्थव्यवस्था को अपने जुए का अड्डा बना दिया है। लेकिन इस जुए में उनकी जीत होने पर तो मेहनतकश जनता की जेब कटती ही है, किसी दाँव में उनके हारने पर भी हानि की वह रक़म उनकी सेवक पूँजीवादी सरकारें विभिन्न ज़रियों से हमारी जेब से ही वसूल कर उनकी भरपाई करती है।

अब मरणासन्न पूँजीवाद के संकट के दौर में तो दुनिया-भर में बैंकों के बारे में सिद्धान्त ही बन गया है– Too big to fail, too big to jail. अर्थात बैंक इतने शक्तिशाली हैं कि कोई पूँजीवादी सरकार उन्हें डूबने देने की हिम्मत नहीं कर सकती; और उनके मालिकों/शीर्ष प्रबन्धकों को किसी भी जुर्म में सज़ा भी नहीं दे सकती।

आज भारत की तस्वीर भी पूरी तरह यही है। सिर्फ़ उदारीकरण के पिछले 25 वर्षों के इतिहास को ही देखा जाये तो बैंक बीसियों लाख करोड़ रुपये क़र्ज़ों और फ़्रॉड में डुबा चुके हैं, कई का तो दिवाला निकल गया; कितने पूँजीपति उसके बल पर ही खरबों की सम्पत्ति के मालिक बन गये हैं। पर इसके कारण इनमें से किसी सरमायेदार, सेठ-महाजन का आज तक कुछ न बिगड़ा, बल्कि उनके पास और दौलत इकट्ठी होती गयी। कुछ दिन पहले पंजाब नेशनल बैंक में नीरव मोदी-मेहुल चोकसी समूह द्वारा किया गया फ़्रॉड सामने आने के बाद से इस क़िस्म की लूट के सामने

आने का एक नया दौर ही शुरू हुआ है। इस फ़्रॉड की कुल रक़म बढ़ते-बढ़ते अब 12,700 करोड़ रुपये तक पहुँच गयी है, साथ ही इनकी कम्पनियों द्वारा लिये गये अन्य क़र्ज़ों को जोड़ा जाये तो कुल रक़म 21 हज़ार करोड़ रुपये से भी अधिक होने का अनुमान है। इसके अतिरिक्त रोटोमैक के विक्रम कोठारी द्वारा 4290 करोड़, द्वारकादास सेठ नामक फ़र्म द्वारा 390 करोड़ रुपये, आदि कई फ़्रॉड के मामले सामने आये हैं। पर इससे पहले के सालों में भी स्थिति यही रही है। कांग्रेसी शासन के आख़िरी दो वित्तीय वर्षों में 6 हज़ार करोड़ रुपये सालाना क़र्ज़ फ़्रॉड के मामले सामने आये थे। मोदी सरकार आने के पहले वित्तीय वर्ष में 15 हज़ार करोड़, दूसरे साल में 16 हज़ार करोड़ और तीसरे साल में 18 हज़ार करोड़ रुपये के ऐसे ही फ़्रॉड सामने आये हैं। यह चौथा साल अभी पूरा होना बाक़ी है और पिछले दिनों ख़बरों में रहे मामले ही 30 हज़ार करोड़ रुपये के लपेटे में जा पहुँचे हैं।

लेकिन सिर्फ़ इतना ही नहीं है। एक और क़िस्म का भी फ़्रॉड है जिसे 'विलफ़ुल डिफ़ॉल्टर' अर्थात इरादतन ग़बनकर्त्ता कहा जाता है। रिज़र्व बैंक ने क़र्ज़ न चुकाने वालों में भी यह एक ख़ास श्रेणी बनायी है जिसमें बैंक मज़बूरीवश तभी किसी को डालते हैं जब क़र्ज़ लेने वाला ख़ुद ही सुसाइडल क़दम उठाकर उनके सामने और कोई विकल्प न छोड़े। इसका मतलब यह प्रमाणित और जगज़ाहिर हो चुका है कि उसने लिए हुए क़र्ज़ का ग़बन कर लिया, चुकाने की हैसियत है, फिर भी इरादतन नहीं चुकाता। पिछले साल 30 सितम्बर को ही ऐसे इरादतन ग़बन की रक़म भी बढ़कर 1 लाख 11 हज़ार 739 करोड़ पहुँच चुकी थी। इनमें 11 तो 1 हज़ार करोड़ से ऊपर का क़र्ज़ हज़म करने वाले हैं; उनमें से भी सबसे बड़ा विनसम डायमण्ड का मालिक जतिन मेहता है जो भागकर सेण्ट किट्स का नागरिक बन गया है। वैसे यह कुल रक़म भी थोड़ी कम ही दिखायी गयी है क्योंकि इसमें विजय माल्या का सिर्फ़ 3 हज़ार करोड़ ही दिखाया गया है।

इसके अतिरिक्त एनपीए या क़र्ज़ की अन्य डूबी हुई रक़म को जोड़ा जाये तो पिछले कुछ सालों में ही बैंकों के ज़रिये पूँजीपतियों द्वारा लूट ली गयी कुल रक़म 10 लाख करोड़ रुपये से ज़्यादा जा पहुँचेगी, जिसमें इस रक़म का कई साल का ब्याज़ शामिल नहीं क्योंकि बैंक वसूली न होने पर इसे जोड़ना ही बन्द कर देते हैं। बट्टे खाते में डाली गयी रक़म या राइट ऑफ़ का बड़ा हिस्सा भी इसमें शामिल नहीं है। पिछले दो दशकों का हिसाब भी अगर एकत्र कर इसमें जोड़ा जाये तो सिर्फ़ उदारीकरण के दौर में ही एक भयंकर लूट का इतिहास सामने आयेगा।

लेकिन क्या वास्तव में इन मामलों को फ़्रॉड कहना सही है? फ़्रॉड कहने से ऐसा आभास होता है जैसे कि यह बैंकिंग प्रबन्धन की कमज़ोरियों का फ़ायदा उठाकर कुछ जालसाजों-ग़बनकर्ताओं द्वारा किये गये अपराध हैं जिसके ख़िलाफ़ सरकार, बैंकिंग और पुलिस-न्याय व्यवस्था जाँच और सज़ा के लिए क़दम उठा रही है। वित्त और अन्य मन्त्री, प्रशासक भी यही बयान दे रहे हैं कि रिज़र्व बैंक तथा अन्य संस्थाओं के नियामकों, प्रबन्धकों, ऑडिटरों की लापरवाही या मिलीभगत से

ये अपराध हुए हैं और अब इनके ख़िलाफ़ सख़्त कार्रवाई की जा रही है। परंतु सारी प्रणाली और घटनाक्रम पर ध्यान दें तो वास्तव में ऐसा नहीं है।

पहली बात तो यह कि ये सब बैंकों, सीबीआई, रिज़र्व बैंक, सरकार को आज से नहीं बल्कि बहुत पहले से मालूम था। जैसे पीएनबी ने ख़ुद स्टॉक एक्सचेंज को सूचना दी है कि गीतांजलि का फ़्रॉड 2 मार्च 2017 को ही मालूम हो चुका था। कोठारी के बारे में भी डेट ट्रिब्यूनल ने 1 जुलाई 2017 को ही फ़्रॉड की घोषणा कर दी थी। द्वारकादास सेठ के मामले में भी 2015 से ही ख़बर थी, पर सीबीआई ने रिपोर्ट ही नहीं लिखी। अन्य सभी मामलों में भी ऐसी ही सूचनाएँ हैं कि यह सब वर्षों से बैंक, रिज़र्व बैंक, सीबीआई, सरकार तक सबकी जानकारी और सहमति से जारी था लेकिन अब जबकि मोदी, चौकसी, माल्या, मेहता, द्वारकादास, आदि विदेश भाग गये या रक़म विदेश या देश में ही ठिकाने लगायी जा चुकी, सुबूत नष्ट किये जा चुके तो अब इन्हें फ़्रॉड घोषित कर कार्रवाई की नौटंकी जारी है।

दूसरी बात यह कि ये तो वे मामले हैं, जहाँ ख़ुद क़र्ज़ लेने वालों ने भागकर सब वैकल्पिक रास्ते बन्द कर लिये अन्यथा भूषण, एस्सार, वीडिओकोन, यूनिटेक, आदि तमाम पूँजीपति इनसे भी बड़ी रक़में दबाकर आराम से भारत में ही मौजूद हैं, उनके विरुद्ध कोई कार्रवाई नहीं की जाती है, उन्हें कोई फ़्रॉड भी घोषित नहीं करता, बल्कि वे पहली कम्पनियों को 'बीमार' बनाकर, नये कारोबार शुरू कर ख़ुद अपनी सेहत और दौलत को और ऊँचाइयों पर पहुँचा रहे हैं। दिलचस्प बात यह है कि फ़्रॉड की ख़बर ज़ाहिर होने पर ख़ुद पीएनबी ने 30 बैंकों को एक पत्र भेजकर कहा कि यह फ़्रॉड अकेले उनके ही बैंक में नहीं हुआ, शेष बैंक भी इसमें शामिल थे और यह सब 7 साल से चल रहा था! इसका अर्थ है कि नीरव मोदी-मेहुल चोकसी की कम्पनियों द्वारा बैंक क़र्ज़ लेने के लिए अपनाया गया तरीक़ा कोई अजूबा नहीं था न ही चोरी-छिपे चल रहा था, बल्कि यह एक सामान्य कारोबारी तरीक़ा था जिसका चलन पूरे बैंकिंग उद्योग में है।

एक और बात प्रचारित करने का प्रयास ज़ोरों पर है कि पीएनबी, ओबीसी जैसे बैंकों में अधिक फ़्रॉड की वजह इनका सरकारी बैंक होना है क्योंकि सरकारी बैंकों में प्रक्रियाएँ कमज़ोर हैं, भ्रष्टाचार और राजनीतिक दख़लन्दाज़ी अधिक है। इसके आधार पर कई विश्लेषक इनके निजीकरण के लिए इन घटनाओं को सशक्त तर्क के रूप में प्रयोग कर रहे हैं। किन्तु तथ्य इस तर्क की पुष्टि नहीं करते। पहले फ़्रॉड की ही बात लें तो संसद में वित्त मन्त्रालय ने स्वयं बताया कि 2014 से 2017 के तीन सालों में बैंकों में कुल 12778 फ़्रॉड हुए जिनमें से एक तिहाई अर्थात 4156 निजी बैंकों में हुए, शेष सरकारी बैंकों में। मतलब बैंक सरकारी हैं या निजी क्षेत्र में, इससे फ़्रॉड में कोई कमी-बेशी नहीं होती। फिर चोकसी के गीतांजलि समूह को क़र्ज़ देने वाले बैंकों के समूह का नेतृत्वकारी बैंक निजी क्षेत्र का आईसीआईसीआई बैंक ही है। फिर भी गीतांजलि समूह को मात्र 100 करोड़ रुपये की जमानत पर 5280 करोड़ रुपये का क़र्ज़ मिला था। उसके पास पिछले साल मार्च से ही ऑडिटरों द्वारा इसके पूरे कारोबार के सन्देहास्पद होने की जानकारी भी

थी, लेकिन उससे भी कोई फ़र्क़ नहीं पड़ा। थोड़ा अतीत में जायें तो हर्षद मेहता से लेकर केतन पारीख के शेयर बाज़ार फ़्रॉड एवं अन्य मामलों में देशी-विदेशी बैंकों की लिप्तता की जानकारी भी जगज़ाहिर है जिनके विरुद्ध भारतीय सरकार और नियामकों ने कभी कोई कार्रवाई नहीं की है। इसके अतिरिक्त निजी क्षेत्र में भी बैंकों के दिवालिया होने का एक बड़ा लम्बा इतिहास है, उसको कोई धूर्त ही नज़रअन्दाज़ कर सकता है। यूरोप-अमेरिका से शुरू हुए वैश्विक वित्तीय संकट में भी वहाँ के विशाल निजी बैंक ही शामिल थे जिनमें से कई को तो बचाने के लिए वहाँ की सरकारों को उनका राष्ट्रीयकरण करना पड़ा जिसका सारा बोझ वहाँ की मेहनतकश जनता पर टैक्स लगाकर या 'ख़र्च कटौती' के नाम पर शिक्षा-स्वास्थ्य की सुविधाओं से वंचित कर पूरा किया जा रहा है। सबसे बड़ी बात तो यह कि अगर निजी क्षेत्र इतना स्वच्छ और कार्यकुशल है तो नीरव मोदी, चोकसी, कोठारी, माल्या, मेहता, द्वारकादास, आदि सब तो निजी क्षेत्र के ही हैं, फिर इन्होंने फ़्रॉड क्यों किये?

यहाँ एक सवाल उठाया जायेगा कि अगर क़र्ज़ डूबने और फ़्रॉड होने में सार्वजनिक और निजी क्षेत्रों में कोई ख़ास फ़र्क़ नहीं है, तब फिर सार्वजनिक क्षेत्र के बैंक हानि में और निजी क्षेत्र के बैंक लाभ में क्यों हैं? हालाँकि हम सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों में सत्ताधारी पार्टी के क़रीबियों को कुछ हद तक अधिक फ़ायदा पहुँचाये जाने की बात से इंकार नहीं कर सकते, लेकिन लाभप्रदता में अन्तर का सबसे मुख्य कारण तो निजी क्षेत्र के बैंकों द्वारा रोज़गार की गारण्टी और असंगठित श्रमबल का सार्वजनिक क्षेत्र के संगठित कर्मचारियों के मुकाबले अधिक शोषण है। सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों में जहाँ कुल परिचालन ख़र्च का 60% से अधिक कर्मचारियों पर होता है, वहाँ निजी क्षेत्र के बैंकों में यह अनुपात 40% से भी कम है। साथ ही प्रति कर्मचारी अधिक उत्पादकता अर्थात काम का ज़्यादा बोझ और लम्बा कार्यदिवस भी अधिक अधिशेष मूल्य पैदा करता है।

स्पष्ट है कि इतनी बड़ी मात्रा में डूबे क़र्ज़ों और फ़्रॉड की परिघटना को न तो निजी-सरकारी बैंकों के अन्तर के आधार पर समझा जा सकता है, न ही कांग्रेस-भाजपा की नीतियों में भेद के आधार पर, और न ही कुछ अपराधियों द्वारा किये गये फ़्रॉड कहकर। इसे समझने के लिए हमें वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था में बैंक, बीमा, आदि वित्तीय क्षेत्र और उद्योग-व्यापार क्षेत्र के पूँजीपतियों के परस्पर सम्बन्धों को समझना चाहिए। पूँजीवादी व्यवस्था में प्रत्येक पूँजीपति को प्रतिद्वन्द्विता में टिके रहने, अधिक से अधिक बाज़ार हासिल करने और अपना अधिकतम मुनाफ़ा सुनिश्चित करने के लिए निरन्तर अधिक से अधिक चल-अचल पूँजी के निवेश की आवश्यकता होती है। आज एक ओर तो उत्पादन के प्रत्येक क्षेत्र में पहले ही पूँजी की जकड़बन्दी होने से बाज़ार के विस्तार की सम्भावनाएँ बहुत सीमित हो चुकी हैं, दूसरी ओर हर उद्योग में कुछ पूँजीपतियों का एकाधिकार क़ायम हो चुका है। इसलिए दूसरे को पछाड़कर आगे बढ़ने की यह होड़ अत्यन्त गलाकाट हो चुकी है। इसलिए सभी पूँजीपतियों के लिए वित्तीय पूँजीपतियों से अधिकाधिक पूँजी प्राप्त कर अपने कारोबार को निरन्तर विस्तारित करने का दबाव हमेशा बना रहता है। फिर स्वयं बैंक, बीमा, आदि वित्तीय पूँजीपतियों में भी एकाधिकार की होड़ है और उन्हें भी आवश्यकता

रहती है कि वे अपना बाज़ार हिस्सा बढ़ाने हेतु ज़्यादा से ज़्यादा कारोबारियों का वित्तीय पोषण कर उनके द्वारा हस्तगत अधिशेष में अपनी हिस्सेदारी और मुनाफ़ा सुनिश्चित करें। दोनों का यह परस्पर हित निश्चित करता है कि बैंक उद्योग-व्यापार की अधिक से अधिक कम्पनियों को क़र्ज़ और निवेश के विभिन्न रूपों में अधिकाधिक वित्तपोषण करते रहें।

इस प्रक्रिया को नीरव मोदी के कारोबार के उदाहरण के ज़रिये भी समझा जा सकता है। मोदी की तीनों कम्पनियों में उसकी अपनी कुल जमा पूँजी मात्र 400 करोड़ रुपये थी। बैंकों ने उसे 3992 करोड़ का क़र्ज़ दिया हुआ था, ऊपर से अब तक 12700 करोड़ के एलओयू सामने आये हैं। रायटर्स के मुताबिक़ कुल 20 हज़ार करोड़ उसे 'सरकारी' बैंकों ने दिया था, जिसके बल पर उसका सारा व्यापार, दौलत खड़ी हुई थी। उसकी कम्पनियाँ इस वित्तीय पूँजी के सहारे ही तेज़ी से विस्तार कर रही थीं और वह दुनिया-भर के देशों में अपने नये-नये स्टोर खोल रहा था। वास्तविकता यह है कि उसने कभी कोई क़र्ज़ वापस नहीं किया। बल्कि वह हर बार पहले से बड़ा क़र्ज़ लेता था, जिससे पिछले क़र्ज़ को जमा दिखाया जाता था। इसके बल पर ही वह बड़ा पूँजीपति बना था; इस पूँजी से ही उसका मुनाफ़ा आता था और बैंकों को रुपये तथा विदेशी मुद्रा के क़र्ज़ पर ब्याज़ तथा एलओयू आदि पर कमीशन मिलता था। यह चक्र जब तक चला तब तक सब सामान्य था, जब टूटा तो इसे फ़्रॉड का नाम दिया जा रहा है। यही हाल अन्य पूँजीपतियों का भी है। नीरव मोदी और पीएनबी के मामले में दोनों द्वारा लिखे जा रहे विभिन्न पत्र यही बता रहे हैं। एक ओर पीएनबी बता रहा है कि नीरव मोदी को दिया गया क़र्ज़ कोई फ़्रॉड नहीं बल्कि बैंक-पूँजीपतियों के बीच सामान्य कारोबारी रिश्ता था, वहीं नीरव मोदी को शिकायत है कि उसके कारोबार में कोई दिक़्क़त नहीं थी, अगर पीएनबी उसको जनवरी में फिर से नया क़र्ज़ दे देता, तो सब सामान्य चलता रहता!

बैंक दो क़िस्म से क़र्ज़ देते हैं। एक, नया कारख़ाना लगाने, विस्तार करने, उन्नत तकनीक और मशीनें लगाने, आदि बड़े निर्माण में स्थाई निवेश के लिए दिये गये क़र्ज़ निश्चित अवधि के होते हैं जिन्हें मासिक, त्रैमासिक, छमाही, सालाना, आदि अन्तराल पर मूल व ब्याज़ की किश्तों में चुकाना होता है। दूसरे, उत्पादन के लिए सामग्री, श्रम शक्ति ख़रीदने, उत्पादित माल के भण्डारण और उत्पादक और उपभोक्ता के बीच मध्यस्थ व्यापारियों से माल का भुगतान आने तक उधार देने के लिए बैंक नक़द उधार, ओवरड्राफ़्ट, गारण्टी, लेटर ऑफ़ क्रेडिट, लेटर अण्डरटेकिंग, पैकिंग क्रेडिट, बिल डिस्कॉउण्टिंग, आदि कई रूपों में कारोबारी क़र्ज़ देते हैं, जो कहने के लिए तो 3, 6, 9 महीने या एक-डेढ़ साल में चुकाने होते हैं पर कभी चुकाये नहीं जाते, बस ब्याज़ चुका दिया जाता है, वह भी अक्सर अगला क़र्ज़ और बड़ी रक़म का लेकर। इसी पूँजी के बल पर सभी पूँजीपति अपने उत्पादन और कारोबार का विस्तार करते हैं, दूसरे पूँजीपतियों से प्रतिद्वन्द्विता करते हैं। पर पूँजीवादी व्यवस्था के अनिवार्य नियम से सभी पूँजीपतियों द्वारा किया जाने वाला यह निरन्तर विस्तार हर कुछ वर्ष में 'अतिउत्पादन' का संकट पैदा करता है क्योंकि अधिकांश जनता की क्रय क्षमता सीमित होने से उत्पादन बाज़ार माँग से अधिक हो जाता है। तब इन विस्तार

करते पूँजीपतियों में से कुछ के लिए यह चक्र टूट जाता है, वे दिवालिया हो जाते हैं, उद्योगों की क़ब्रगाह में उन्हें दफ़ना दिया जाता है और उनके लिए क़र्ज़ एनपीए, विलफ़ुल डिफ़ॉल्टर, फ़्रॉड, आदि के रूप में सामने आते हैं। साथ ही कभी-कभी विभिन्न कारणों से किसी बैंक द्वारा किसी पूँजीपति को नया क़र्ज़ नहीं मिले तब भी उसका कारोबार तबाह हो जाता है, क़र्ज़ डूब जाता है।

पिछले 4 साल में सामने आये बैंक क़र्ज़ संकट को भी इसी परिप्रेक्ष्य में समझा जा सकता है। 1991-92 में आर्थिक उदारीकरण की शुरुआत के समय भारतीय अर्थव्यवस्था में बैंक क़र्ज़ की कुल मात्रा उस समय के सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) की 19% थी। इसके बाद के पहले दशक 2001-02 तक यह बढ़कर 25% हो गयी। लेकिन उसके बाद 2003 से 2008 तक जो एक अस्थाई वृद्धि का दौर चला उसमें बैंक क़र्ज़ की मात्रा तेज़ी से बढ़कर लगभग दोगुनी हो गयी। अर्थात इस आर्थिक विस्तार के मूल में बैंकों द्वारा औद्योगिक-व्यापारिक पूँजीपतियों को दिये गये भारी क़र्ज़ थे। इसके बाद जब वैश्विक आर्थिक संकट शुरू हुआ तो भारत में इसके प्रभाव को टालने के लिए और अधिक बैंक क़र्ज़ दिये गये। इस तरह कुल बैंक क़र्ज़ की मात्रा बढ़कर जीडीपी का 52% हो गयी जबकि इस दौरान जीडीपी की संख्या में भी बड़ी वृद्धि हुई थी। लेकिन बाज़ार संकट के प्रभाव को अधिक वक़्त तक नहीं टाला जा सका और पूँजीपतियों की लाभप्रदता में 2011-12 के साल से तेज़ गिरावट आनी शुरू हो गयी। परिणामस्वरूप 2013-14 का वर्ष आते-आते बहुत से पूँजीपतियों के लिए क़र्ज़ की किश्तें छोड़िए, ब्याज़ चुकाना भी मुश्किल हो गया। उसका नतीजा ही पिछले वर्षों में डूबते क़र्ज़ों और राइट ऑफ़ की रक़म में भारी वृद्धि है।

पर इस स्थिति से जब बैंकों के लिए संकट पैदा होता है तो वे सरकारी हों या निजी दोनों दौड़कर सरकारी मदद के लिए ही जाते हैं जो अधिक पूँजी, क़िस्म-क़िस्म की रियायतों, रिज़र्व बैंक द्वारा सस्ते क़र्ज़, आदि विभिन्न रूपों में दी जाती है और इसका बोझ अधिक टैक्स, बढ़ी क़ीमतों और सार्वजनिक सेवाओं में कटौती के ज़रिये मेहनतकश और निम्नमध्यवर्गीय जनता पर डाला जाता है। भारत में ही उदारीकरण के दौर में ही लगभग 6 लाख करोड़ रुपये पुनर्पूँजीकरण के रूप में सरकार ने सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों को तो दिये ही हैं, साथ ही जब कोई निजी बैंक भी घाटे में गया है तो उसको या तो सरकारी बैंक में विलय या अन्य माध्यमों के ज़रिये सरकार ने ही बचाया है जिसका सारा बोझ आम मेहनतकश जनता के सिर पर ही पड़ा है। बैंकों के माध्यम से होने वाली यह लूट पूँजीवाद का अभिन्न, अनिवार्य अंग है। बैंक सरकारी या निजी होने से यह चरित्र नहीं बदलता। अमेरिका-यूरोप में यही काम निजी बैंकों के ज़रिये किया गया, कुछ बैंकों का संकट में राष्ट्रीयकरण भी हुआ। भारत में दोनों क़िस्म के बैंकों के ज़रिये हो रहा है, सरकारी बैंक ज़्यादा हैं तो ज़्यादा उनके ज़रिये ही होता है। इस प्रकार बैंक निजी हो तब तो उसका मालिक कोई निजी पूँजीपति होता ही है, बैंक सरकारी हो तब उसके मालिक सब पूँजीपति मिलकर होते हैं, क्योंकि सरकार के मालिक पूँजीपति हैं, उत्पादन के साधनों के मालिक पूँजीपति हैं! निजी और सार्वजनिक क्षेत्र के बीच की बहस पूरी पूँजीवादी व्यवस्था में अन्तर्निहित लूट से ध्यान हटाने के

लिए छेड़ी जाती है – ना तो निजी बैंक मेहनतकश जनता की लूट में कोई कमी छोड़ते हैं, ना सरकारी। दोनों को ही घाटा हो तो उसकी भरपाई आम मेहनतकश जनता से ही की जाती है।

पूँजीवाद में निजी पूँजी तो निजी लाभ के लिए है ही, सार्वजनिक क्षेत्र भी समाजवादी नहीं बल्कि राजकीय पूँजीवाद ही है जो पूँजीपति वर्ग के लाभ के लिए काम करता है। हाँ, सत्ता वाली पार्टी के क़रीबियों को अधिक लाभ होता है जिसे आपसी संघर्ष में अन्य पूँजीपति क्रोनी पूँजीवाद कहकर आलोचना करते हैं ताकि पूरी पूँजीवादी व्यवस्था पर चोट न हो। पर मार्क्सवादी दृष्टिकोण से सारा पूँजीवाद ही लूट पर आधारित है; साफ़, ईमानदार, शोषणमुक्त पूँजीवाद कभी भी, कहीं भी होता ही नहीं है। वर्तमान बैंकिंग घटनाक्रम में भी कांग्रेस आदि बुर्जुआ दलों के दृष्टिकोण से की गयी आलोचना और मार्क्सवादी दृष्टिकोण से की गयी आलोचना में यह फ़र्क़ होना ज़रूरी है।

(लेखक आर्थिक मामलों के जानकार हैं)

बजट

बजट में गांव कहां है?

शिवाजी राय

2018-19 के वित्तीय बजट के माध्यम से मोदी जी ने वादा किया है कि यह बजट ग्रामीण क्षेत्रों के विकास पर केंद्रित है। मोदी जी की सरकार को 26 मई 2018 को चौथा साल पूरा हो जायेगा। संसद से सड़क तक, इलेक्ट्रानिक मीडिया से लेकर प्रिंट मीडिया तक काफी शोर मचा कि यह बजट ग्रामीण इलाकों यानि गांव, गरीब, किसान तथा ग्रामीण मजदूरों के हित का बजट है। बजट से कुछ दिन पहले एक रिपोर्ट में कहा गया कि जीडीपी यानि सकल घरेलू उत्पाद में कृषि क्षेत्र की भागीदारी 17.32 प्रतिशत जबकि औद्योगिक क्षेत्र में 29.02 प्रतिशत सेवा क्षेत्र की भागीदारी 53.66 प्रतिशत है। दो वर्ष पहले एक रिपोर्ट में कहा गया कि दो करोड़ किसान परिवारों ने खेती छोड़ दी है। आर्थिक विश्लेषकों का मत है कि विकास दर में सेवा क्षेत्र की बड़ी भागीदारी के बावजूद रोजगार के मामूली अवसर प्राप्त होते हैं जबकि यह माना जाता रहा है कि देश स्तर पर सबसे ज्यादा रोजगार के अवसर कृषि क्षेत्र से उपलब्ध होते रहे है तथा औद्योगीकरण के बाद औद्योगिक क्षेत्र में रोजगार के अवसर बढ़े हैं। उपरोक्त रिपोर्ट में कृषि क्षेत्र के विकास में भागीदारी की बात चौंकाने वाली लगती है।

चूँकि आंकड़े सच बोलते हैं तो निश्चित ही अनेक सवाल खड़े करते हैं। मैं मोदी जी के दावोस सम्मेलन में उपस्थिति के अवसर पर देश के उद्योगपति राहुल बजाज के एक बयान का जिक्र करते हुए कहना चाहता हूँ कि उन्होंने 25 वर्ष पहले पूर्व प्रधानमंत्री एचडी देवेगोड़ा के दावोस सम्मेलन में शिरकत का मजाक उड़ाते हुए कहा था कि वे अपनी पत्नी के साथ देशाटन करने गये थे। चूँकि राहुल बजाज ऐसे उद्योगपति है जिनके पास उत्तर प्रदेश में बारह वर्ष पहले दो शुगरमिल (चीनी मिलें) थीं जिसकी संख्या बढ़कर अब सोलह हो चुकी है। उत्तर प्रदेश में चीनी मिलों की हालात की चर्चा करूं जो कि पूर्णतः कृषि आधारित उद्योग है। उत्तर प्रदेश में राहुल बजाज की सोलह मिलों में से एक बस्ती की चीनी मिल भी है जिसे अघोषित तौर पर बंद कर दिया गया। लगातार चार वर्षों से उस क्षेत्र के किसान तथा मिल-मजदूर धरना-प्रदर्शन और अनशन के माध्यम से आंदोलनरत हैं। चार साल से ज्यादा समय से उन मजदूरों को मजदूरी नहीं मिली तथा किसानों के गन्ना के बकाया भुगतान से लेकर के गन्ना आपूर्ति का समुचित तरीके से इंतजाम न होने के कारण काफी किसानों ने गन्ने की बुआई कम कर दी।

आन्दोलनरत किसानो अनेक बार लाठियां बरसाई गयीं तथा तमाम संगठनों के नेताओं को पुलिस प्रशासन, जिला प्रशासन तथा बजाज के गुंडों द्वारा धमकियां भी मिलती रहीं फिर भी किसान-मजदूर अपनी मांग पर डटे रहे। किसानों की तमाम मांगों मे से एक मांग यह भी है कि मिल में बड़े पैमाने पर अनियमितता एवं सरकारी पैकेज का अनियमित तरीके से लाभ उठाने की

जांच करायी जाए। इसके बारे में उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री 'अजय सिंह बिष्ट' ने कुर्सी सम्भालते हुए मिलों की हालत सुधारने तथा बंद मिलों को चलाने की घोषणा की थी। वह भी घिसा-पिटा फार्मूला पीपीपी (पब्लिक प्राइवेट पार्टनरशिप) को लागू करना जो की अभी तक क्रियान्वित नही हुआ। जहां-जहां मिलें बंद हुयीं, उन मिल मजदूरों तथा किसानों के परिवारों की हालत बदतर हुई। उनकी पढ़ाई-लिखाई, भोजन-कपड़े का प्रबंध तक खतरे में पड़ गया और उनकी सामाजिक स्थिति बद से बदतर हो गयी। जितने दिनों से जिन मजदूरों की मजदूरी नहीं मिली उसकी खोज खबर देश और प्रदेश की सरकारों द्वारा भी नही ली गयी। स्थानीय जनप्रतिनिधि जो बड़े-बड़े वादों के साथ किसानो मजदूरों के वोट से चुनकर आए उन लोगों ने इसकी चर्चा ना ही राज्य विधानसभा और ना ही लोकसभा में ही की जबकि बस्ती लोकसभा क्षेत्र की नुमाइंदगी गांव, गरीब, किसान, मजदूर की बात करने वाली केन्द्र और प्रदेश की सरकार पार्टी की ही है।

इसी प्रकार चीनी मिल पडरौना (कुशीनगर) जो वर्षों से बंद है, वहाँ पर भी किसान मजदूरों द्वारा व्यापक जन-आन्दोलन चलाया गया। पुलिस द्वारा गोलियां भी चलायी गयीं परन्तु उसका कोई साकारात्मक परिणाम नहीं रहा। 2014 चुनाव के दौरान देश के प्रधानमंत्री के प्रत्याशी के हैसियत से मोदी जी ने चुनावी जनसभा में बहुत ही साफ-साफ शब्दों में कहा था कि आप लोग कुशीनगर लोकसभा क्षेत्र से हमारे प्रत्याशी को जिताकर भेजिए, मेरी सरकार बनते ही पडरौना की चीनीमिल तत्काल प्रभाव से चालू कर दी जायेगी लेकिन चार साल बीतने को हैं, प्रधानमंत्री मोदी जी की बात अपनी जगह पर है और पडरौना का उजड़ा दिखता चीनी मिल मोदी जी की वादे पूरा करने की राह देख रहा है।

मैं इन उदाहरणों के माध्यम से कहना चाहता हूं कि हम लोगों के बचपन के दौर में जब कोई विधायक,सांसद, प्रशासन में उच्च-पदस्थ व्यक्ति, मंत्री या जनता के सरोकार रखने वाले लोग जब किसी बात की सार्वजनिक घोषणा कर देते थे तो गांव के गरीब, किसान, मजदूर, नौजवान उनकी बातों पर यकीन कर लेते थे कि अमुक आदमी ने यह बात कही है इसलिए यह कार्य निश्चित ही होगा और इस विश्वास के मायने होते थे। चूँकि जनता और प्रतिनिधि या उच्च-पदस्थ लोगों के बीच निश्चित रूप से कोई लिखा-पढ़ी या शपथ पत्र नही भरा जाता है। दोनों के बीच विश्वास एक ऐसी चीज है जिसके माध्यम में सबसे बड़ा अधिकार मत का है। उसका बिना कोई मूल्य लिए जनता दान कर देती है जिसे मतदान कहते हैं।

इस प्रकार पूरे यूपी में जानबूझकर कृषि आधारित उद्योगों को नष्ट कर दिया गया और नकदी फसलों के क्षेत्रों को घाटे में ले जाया गया, चाहे वो आलू हो, प्याज, टमाटर, गन्ना, धान-गेहूँ, दलहन-तिलहन एवं इसके सहयोगी पशुपालन, मत्स्यपालन- पूरे कृषि क्षेत्र को कंपनियां तथा सरकार के बिचौलिये, नौकरशाही की चारागाह बना दिया गया। परेशान होकर किसान किसानी की तरफ से उदासीन हो गये। साथ ही भूमि अधिग्रहण कानून 1894 के द्वारा जो जमीन अधिग्रहित

की गयी और उस पर परियोजनाएं स्थापित नही हुईं वहां के किसान अभी तक लड़ रहे हैं तथा बस्ती-पडरौना शुगरमिल के किसानों की तरह वर्षों से किसान आन्दोलनरत हैं।

वर्तमान में कुशीनगर के शिशवा महंत के क्षेत्र में 2001 से अधिग्रहित जमीन की सूचना को निरस्त करने के लिए आसपास के सैकड़ों किसान अभी भी आन्दोलनरत हैं। दो करोड़ किसानों ने खेती छोड़ दी या सरकार की किसान-विरोधी नीतियों ने उन्हे खेती छोड़ने पर मजबूर किया। यह बहस का बड़ा विषय है। आखिरकार जीडीपी में कृषि क्षेत्र की तेजी से घटती भागीदारी के साथ ही उसी गति से जीडीपी में औद्योगिक क्षेत्र की भागीदारी का बढ़ना तथा मोदी जी द्वारा दो करोड़ प्रतिवर्ष रोजगार के अवसर उपलब्ध कराने की विफलता के कारण यह निश्चित ही कहा जायेगा कि बंद उद्योगो से प्रभावित मजदूर व किसान तथा उस पर आाधारित व्यवसाय का खत्म होना, साथ ही स्किल्ड लेबर बनाने के लिए देश में इंजिनियरिंग कालेज, एमबीए, बीबीए एवं तमाम किस्म के टेक्निकल इन्सिटिट्यूट से निकले युवाओ की भीड़ व नॉन स्किल्ड शिक्षित बेरोजगारों तथा फीस और पैसे के अभाव में अशिक्षित हुए नौजवानों की देश में एक भारी भरकम की जमात खड़ी हो चुकी है। इस समय जब टीवी चैनलों पर सरकार के नुमाइंदे और उनके प्रवक्ता बड़े-बड़े डेटा लेकर सरकारों की सफलता और विकास के आंकड़े पेश करते हैं। उसी के साथ बीच-बीच में तमाम एजेंसी के आँकड़े भी सुर्खियों में आ जाते हैं, तब पता चलता है कि देश में गरीब, किसान, मजदूर, नौजवान, कामकाजी महिलाएँ, ठेला-खुमचा वाले, फुटपाथी व्यवसायी, छोटे व्यापारी एवं तमाम मेहनतकश लोगो की दिन-रात हाड़तोड़ मेहनत की कमाई देश के इने-गिने लोगों के पास सरकार के सहयोग से पहुँचा दी जा रही है जिसके कारण देश की सारी पूँजी पनामा पेपर, पैराडाइज पेपर, स्विज़ अकाउन्ट तथा दुनिया के देशों में निवेश के माध्यम से सारा पैसा कालेधन के रूप में एवं मुनाफाखोरी के लिए बाहर चला जाता है और देश के प्रधानमंत्री सरकारी खर्चे पर पूरी दुनिया में घूम करके बिना शर्त लाल कालीन बिछाकर दुनिया के उद्योगपतियों को बुलाते हैं।

आज देश में 7,33,000 करोड़ रूपए बैंक के एनपीए (बट्टा खाता) को खत्म करा कर बैंकों से पुनः कर्ज लेने का दबाव बढ़ता जा रहा है। जनता की गाढ़ी कमाई से टैक्स वसूल कर बैंकों के घाटे की भरपाई का उन्हें दिवालिया होने से बचाया जा रहा है। यूपी के मुख्यमंत्री ने भी 21-22 फरवरी को इनवेस्टर्स सम्मिट के माध्यम से देश विदेश के तमाम उद्योगपतियों को यूपी में निवेश करने के लिए बड़ी तैयारी कर पूरे देश में एक बड़ा प्रचार कराया जिसमें बहुत सारा धन खर्च किया गया। उद्योगपतियों की अगवानी में जिस तरह की तैयारी हुई, ऐसी तैयारी उस समय होती होगी जब ब्रिटेन का सम्राट अपने उपनिवेश में कदम रखता होगा।

हमारे देश को इनवेस्टर्स सम्मिट के बजाय इकोनामिस्ट सम्मिट की आवश्यकता है जहां बड़े पूँजीपतियों के स्थान पर दुनिया के अर्थशास्त्री भाग लें और भारत को अपनी आर्थिक स्थिति को मजबूत बनाने का मार्ग दिखायें। जीडीपी में सेवा क्षेत्र की बढ़ती भागीदारी से रोजगार के अवसर

कम होने से साफ-साफ लगता है कि यह जनता का हित कम और मुनाफे का मामला ज्यादा है। केन्द्र हो या प्रदेश की सरकारें हों अब इनकी भूमिका सिर्फ और सिर्फ बिचौलिए की है।

जीडीपी में कृषि क्षेत्र की घटती भागीदारी के कारण किसान द्वारा आत्महत्याएं तेजी से बढ़ रही हैं। साथ ही औद्योगिक क्षेत्र में बड़े पैमाने पर रोजगार के अवसर न होने से युवाओं में भी आत्महत्या की प्रवृत्ति बढ़ रही है और साथ ही बेरोजगार युवाओं के कदम मजबूरी में अपराध की ओर बढ़ रहें हैं। परिणामस्वरूप एक तरफ कानून व्यवस्था चरमरा गई है और दूसरी तरफ बड़े पैमाने पर जगह-जगह आन्दोलन भी उभार पर हैं। 2018-19 के बजट को ग्रामीण केन्द्रित बजट बताया जा रहा है परन्तु पूरे बजट की समीक्षा करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि नये तरीके तथा नये रास्ते से पूँजीपतियों की जेबें भरने के लिए यह एकमात्र बजटीय प्रावधान है। चूँकि प्रस्तावित बजट में कृषि आधारित, ग्रामीण महिलाओं, ग्रामीण शिक्षा, ग्रामीण रोजगार, कुटीर उद्योग, कृषि आधारित उद्योगों की स्थापना, पूँजी का विकेन्द्रीकरण, किसानों के लिए बिना ब्याज का कर्ज, कृषि अनुसंधान केन्द्र, ग्रामीण बच्चों के लिए संस्थान, ग्रामीणों की सूद्खोरों से मुक्ति की योजना, नकदी फसल उत्पादन की योजना, फसलों के रख-रखाव तथा कृषि उत्पादन के स्टोरेज के लिए समुचित योजना तथा कृषि उत्पादन के खरीद बिक्री का प्रबंध (जो कि पूरे देश में न के बराबर है), सिचाई के प्रबंध (क्योंकि अभी भी 70 प्रतिशत् कृषि वर्षा पर निर्भर है), प्राकृतिक आपदा जैसे-बाढ़-सूखा आदि से निपटना, आवारा पशुओं से निजात तथा किसानों के कृषि ऋण (केसीसी को छोड़कर) कृषि उपकरणों जैसे- ट्रैक्टर, थ्रेसर को टैक्स मुक्त करना, सस्ते दरों पर फर्टिलाइजर उपलब्ध कराने का प्रबंध, ग्रामीण चिकित्सा का उचित प्रबंध, गावों में समुचित शौचालय बनवाने की समुचित धनराशि उपलब्ध कराना, गावों में राशनकार्ड पर अनाज, तेल, चीनी, गरीबों को कपड़ा एवं ग्रामीण महिलाओं और पुरूषों को बेरोजगारी भत्ता और साथ ही महिलाओं की राजनैतिक भागीदारी को बढ़ावा देने की योजना, विद्युत एवं सरकारी परिवहन के साधन, ग्रामीण इलाको में मुकदमों के लिए मुफ्त पैरवी का प्रबंध, ग्रामीण उद्योगों में हस्तक्षेप वर्जित, लघु उद्योगों, ग्रामीण उद्योगों के संरक्षण हेतु बडे उद्योगों का प्रवेश वर्जित करने इत्यादि जैसी कोई भी कारीगर योजना उभर कर सामने नही आती है। अतः इस बजट को ग्रामीण केन्द्रित बजट कहना जनता को धोखा देना है। इस बजट में ग्रामीण पलायन रोकने के लिए सरकार ने कोई योजना नही बनायी जिससे ग्रामीण स्तर पर युवकों को रोजगार मिल सके।

सामाजिक न्याय के आन्दोलन के माध्यम से विनोबा भावे जी का भू-दान आन्दोलन तथा जेपी के जमीन आन्दोलन के माध्यम से आजादी के बाद ही सीलिंग एक्ट के तहत किसानों से जमीन लेकर भूमिहीन को जमीन दी गयी, तो सामाजिक न्याय के फार्मूला के मुताबिक जमीन का फार्मूला पूँजीपति पर क्यों नही लागू होता। पूँजी की हदबंदी के बिना संभव ही नही है कि भारतीय संविधान में प्रदत्त शिक्षा, चिकित्सा रोजगार एवं तमाम प्राप्त अधिकारों को लागू किया जा सके। पूँजीवाद की ट्रिकल डाउन थ्योरी से देश की बहुसंख्यक आबादी यानी किसान, मजदूर, महिलाओं, बेरोजगार युवाओं का हित संभव नहीं है। देश के उद्योगपतियों, जमाखोरों और

मुनाफाखोरों का पेट इतना बड़ा हो गया है कि यह बिचौलिया सरकारें उनका पेट भरते-भरते थक जायेंगी, पूरा देश उनके पेट में चला जायेगा तब भी ये ना नहीं करेंगे क्योंकि ये कोई देशभक्त नहीं है। इनकी मानवीय संवेदना मर चुकी है।

अब जरूरत है कि संविधान की कसम खाने वाली सरकारें, संसद व न्यायालय देश के हित में पूँजीपतियों द्वारा कब्जा की हुयी संपत्ति को जब्त कर जनता के हक में लगाएं।

(लेखक किसान मजदूर संघर्ष मोर्चा के अध्यक्ष हैं)

बजट

बजट में 'मोदी केयर' का मतलब एक व्यक्ति पर केवल 40 रुपये का सरकारी खर्च?

अमन कुमार

बजट 2018 की घोषणा करते हुये वित्तमंत्री ने राष्ट्रीय स्वास्थ्य सुरक्षा योजना का एलान किया। वित्त मंत्री ने बजट पेश करते हुए कहा कि इस योजना के तहत देश के 10 करोड़ गरीब और वंचित परिवारों के लिए ये योजना शुरू की जाएगी। इससे लगभग 50 करोड़ लोगों को लाभ होगा। वित्तमंत्री ने दावा किया इस योजना से हर साल प्रत्येक परिवार को 5 लाख रुपये का मेडिकल खर्च दिया किया जाएगा। सरकार की तरफ से इसको विश्व की सबसे बड़ी स्वास्थ्य सुरक्षा योजना कहा जा रहा है।

सरकार इस योजना को विश्व की सबसे बड़ी स्वास्थ्य योजना कह रही है लेकिन इसकी हकीकत कुछ और है। बजट में स्वास्थ्य और परिवार कल्याण विभाग को 52 हज़ार 800 करोड़ रुपये दिए गए हैं जबकि पिछ्ले साल 51 हजार 500 करोड़ रुपये दिये गये थे जो पिछले साल के बजट के मुकाबले केवल 2.5 फीसदी ज़्यादा है। इस साल स्वास्थ्य के नाम पर लगने वाले सेस को बढ़ाकर 3 से 4 फीसदी कर दिया है। इससे जनता पर बिलों का बोझ और ज़्यादा बढ़ेगा। इससे सरकार को सालाना 11 हज़ार करोड़ रूपये ज़्यादा मिलने की संभावना है लेकिन स्वास्थ्य के लिए केवल 1250 करोड़ रूपये बढ़ाए गए हैं।

असली घोटाला और जुमला हालांकि कहीं और छुपा है। नई स्वास्थ्य नीति में स्वास्थ्य बीमा के लिये 2000 करोड़ रूपये दिए गए हैं यानी 500 करोड़ की बढ़ोतरी की गई है। अब हम सहज ही अंदाजा लगा सकते हैं कि बढ़े हुये 500 करोड़ से कितने लोगों को बीमा लाभ दिया जा सकता है? योजना के मुताबिक 10 करोड़ परिवारों को स्वास्थ्य बीमा के तहत लाया जाना है जिससे लोगों की सेहत को सुधारा जा सके। सरकार एक परिवार में पांच लोगों की गणना करती है इसका मतलब 50 करोड़ लोगों को स्वास्थ्य बीमा देना है, बजट राशि है 2000 हजार करोड यानी प्रतिव्यक्ति 40 रुपए। अगर चार लोगों के परिवार के हिसाब से आकलन किया जाये तो प्रति व्यक्ति 50 रुपए। सरकार की स्वास्थ्य सेवाओं और उनको लेकर सरकार की गम्भीरता का अन्दाजा इसी से लगाया जा सकता है।

मोदी केयर जिसे नमोकेयर भी कहा जा रहा है, इसके तहत 10 करोड़ परिवारों को प्रतिवर्ष प्रति परिवार 5 लाख रुपये का मेडिकल खर्च प्रदान किया जाएगा। मोदी सरकार द्वारा पहले भी स्वास्थ्य बीमा का एलान किया गया था लेकिन उसकी हकीकत से हम सब वाकिफ़ हैं। 5 लाख के स्वास्थ्य बीमा का हाल भी वही न हो पहले वाले का हुआ। 2016 में 'राष्ट्रीय स्वास्थ्य बीमा

योजना’ का एलान किया गया था जिसमें हर परिवार को 1 लाख का स्वास्थ्य बीमा दिया जाना था। दो साल बीत जाने के बाद अभी भी प्रतिवर्ष लगभग 30,000 रुपये का बीमा ही दिया जा रहा है।

सरकार ने बजट में एक लाख 50 हज़ार स्वास्थ्य केंद्र बनाने का दावा किया है जिसके लिए 1200 करोड़ रूपये दिये गये हैं। इस हिसाब से एक स्वास्थ्य केन्द्र के निर्माण में लगभग 80,000 रुपये मिलेंगे। एक स्वास्थ्य केन्द्र के निर्माण के लिये ये रकम बहुत कम है। इतनी कम रकम से स्वास्थ्य केन्द्र का निर्माण असंभव है। पहले बने स्वास्थ्य केन्द्रों के हालात से हम सभी वाकिफ़ हैं।

नए स्वास्थ्य केन्द्रों की बात न करके अगर वर्तमान स्वास्थ्य केन्द्रों की हालत को भी देखा जाए तो स्वास्थ्य सेवाओं का अंदाजा लगाया जा सकता है। वर्तमान में लगभग एक लाख 56 हज़ार 231 स्वास्थ्य केंद्र हैं लेकिन मार्च 2017 को स्वास्थ्य मंत्रालय द्वारा जारी किए गए स्वास्थ्य सर्वेक्षण के मुताबिक, इन केन्द्रों में से केवल 17,204 मतलब 11 फीसदी ही मानकों पर खरे उतरते हैं। 20 फीसदी केन्द्रों में साफ पानी नहीं है 23 फीसदी स्वास्थ्य केन्द्र बिजली की कमी से जूझ रहे हैं और लगभग 6000 स्वास्थ्य केन्द्रों में महिला स्वास्थ्यकर्मी नहीं है व एक लाख केन्द्रों में पुरुष स्वास्थ्यकर्मी नहीं है।

बजट में घोषित की गई मोदीकेयर एक और घोटाला न बन जाये इसके लिये इस योजना की निगरानी जरूरी है। कहीं ऐसा न हो कि मोदी सरकार की ये योजना बीमा कम्पनियों की लूट का साधन न बन जाये। सरकार ने बजट भाषण में ऐसा कोई संकेत नहीं दिया कि कौन सी बीमा कम्पनियां इस सुविधा को उपलब्ध करायेंगी। कहीं स्वास्थ्यसेवाओं को निजी हाथों में सौंपने का प्लान तो नहीं है? प्रीमियम भुगतान के पुराने अनुभव भी याद रखे जाने आवश्यक हैं जिससे दोबारा ऐसी स्थिति न आये।

मोदीकेयर का रोडमैप क्या है और कब तक इसको लागू किया जायेगा? इसकी अवधि क्या होगी? इस योजना का हश्र भी अन्य चुनावी वायदों की तरह तो नहीं होगा?

(लेखक पत्रकार हैं)

बजट

आम बजट में 'स्वास्थ्य बीमा' कहीं निजी बीमा कंपनियों को मुनाफा पहुंचाने का जुमला तो नहीं?

डॉ. ए.के. अरुण

देश के आम बजट 2018 में "50 करोड़ लोगों को स्वास्थ्य बीमा" को जिस प्रकार मीडिया बेहतरीन स्वास्थ्य बजट बताकर पेश कर रहा है, उससे खुश लोगों को मेरी यह रिपोर्ट थोड़ा निराश कर सकती है। अभी वित्त मंत्री ने अपने बजट भाषण में देश के 50 करोड़ गरीबों को स्वास्थ्य बीमा योजना के दायरे में लाने की घोषणा की है। मंत्री ने यह भी कहा है कि बाद में इस योजना का लाभ शेष बची आबादी को भी दिया जा सकता है। वित्त मंत्री के दावे के अनुसार इस योजना से गरीब लोगों के इलाज के लिए महंगे अस्पतालों के दरवाजे खुल जाएंगे और उन्हें निजी अस्पतालों में कोई फीस नहीं देनी होगी। वित्त मंत्री ने इसके लिए बजट में 2 हजार करोड़ रुपये का प्रावधान किया है।

टी.वी. मीडिया पूर्व अमेरिकी राष्ट्रपति बराक ओबामा की स्वास्थ्य योजना (ओबामा केयर) की तरह इसे उससे भी बड़ी योजना बता रहा है। यहाँ गौर करने की बात यह है कि सन 2008 में जब बराक ओबामा अमेरिका के राष्ट्रपति बने थे तब उन्होंने भी "अमेरिकी नागरिकों के लिये स्वास्थ्य बीमा " को अपने चुनाव का मुख्य मुद्दा बनाया था और वे चुनाव अच्छी तरह जीते भी थे लेकिन सन 2010 में ओबामा प्रशासन के "एफोर्डेबल केयर एक्ट " के बावजूद आम अमेरिकी नागरिकों को यह फायदा नहीं मिल पाया और ओबामा को सत्ता गंवानी पड़ी थी।

स्वास्थ बीमा की इस योजना को मीडिया जहाँ "मोदी केयर " नाम दे रहा है, वहीं बीजेपी अध्यक्ष इसे "नमोकेयर " बुला रहे हैं लेकिन विपक्ष और मौजूदा सरकार के कामकाज का आकलन करने वाले बुद्धिजीवी इसे महज एक "चुनावी जुमला " मान रहे हैं। गौर करने लायक बात यह भी है कि विगत वर्ष 2017 के बजट में घोषित "स्वास्थ्य सुरक्षा योजना " का अभी तक कहीं कोई अता-पता तक नहीं है और न ही इस वर्ष के बजट भाषण में उसका जिक्र है। उल्लेखनीय है कि 15 अगस्त 2016 को लालकिले से प्रधानमंत्री मोदी ने बीपीएल परिवारों के इलाज पर होने वाले खर्च की एक लाख रुपये तक की राशि देने का वायदा किया था। आम बजट 2016-17 में इस योजना की घोषणा भी की गई जिसे 1 अप्रैल 2017 से लागू करना था लेकिन अब इस सरकार को याद नहीं है।

भारत में स्वास्थ्य की स्थिति पर नज़र डालें तो सूरत-ए-हाल बेहाल और चिन्ताजनक है। स्वास्थ्य सेवाओं की स्थिति भी खस्ता है। अन्य देशों की तुलना में भारत में कुल राष्ट्रीय आय का लगभग 4 प्रतिशत ही स्वास्थ्य सेवाओं पर खर्च होता है जबकि चीन 8.3 प्रतिशत, रूस 7.5

प्रतिशत तथा अमेरिका 17.5 प्रतिशत खर्च करता है। विदेश में स्वास्थ्य की बात करें तो फ्रांस में सरकार और निजी सेक्टर मिलकर फंड देते हैं जबकि जापान में हेल्थकेयर के लिए कम्पनियों और सरकार के बीच समझौता है। आस्ट्रिया में नागरिकों को मुफ्त स्वास्थ्य सेवा के लिए "ई-कार्ड" मिला हुआ है। हमारे देश में फिलहाल स्वास्थ्य बीमा की स्थिति बेहद निराशाजनक है। अभी यहां महज 28.80 करोड लोगों ने ही स्वास्थ्य बीमा करा रखा है, इनमें 18.1 प्रतिशत शहरी और 14.1 प्रतिशत ग्रामीण लोगों के पास स्वास्थ्य बीमा है।

इसमें शक नहीं है कि देश में महज इलाज की वजह से गरीब होते लोगों की एक बड़ी संख्या है। अखिल भारतीय आर्युविज्ञान संस्थान (एम्स) के एक शोध में यह बात सामने आई है कि हर साल देश में कोई 8 करोड़ लोग महज इलाज की वजह से गरीब हो जाते हैं। यहां की स्वास्थ्य सेवा व्यवस्था ऐसी है कि लगभग 40 प्रतिशत मरीजों को इलाज की वजह से खेत-घर आदि बेचने या गिरवी रखने पड़ जाते हैं। एम्स का यही अध्ययन बताता है कि बीमारी की वजह से 53.3 प्रतिशत नौकरी वाले लोगों मे से आधे से ज्यादा को नौकरी छोड़नी पड़ जाती है।

वित्तमंत्री ने अपने बजट भाषण में "आयुष्मान भारत" का जिक्र कर जिन दो योजनाओं की बातें की हैं उसमें एक तो ऊपर चर्चित "राष्ट्रीय स्वास्थ्य बीमा योजना तथा दूसरी "हेल्थ एवं वेलनेस योजना" है। सरकार का दावा है कि वह देश भर में डेढ़ लाख से ज्यादा हेल्थ और वेलनेस सेंटर खोलेगी जो रोगियों को जरूरी दवाएँ और जाँच सेवाएं फ्री मुहैया कराएंगे। यह योजना दिल्ली की केजरीवाल सरकार की "मोहल्ला क्लीनिक" योजना से प्रभावित लगती है। वित्त मंत्री के अनुसार टी.बी. के मरीजों को हर महीने 500 रुपये देने की बात है ताकि वे पोषक भोजन कर सकें।

स्वास्थ्य बजट में आयुष पद्धति के होमियोपैथी, आयुर्वेद व योग आदि के लिए अलग से कोई विशेष प्रावधान नहीं है। स्वदेशी का नारा लगाने वाली मौजूदा सरकार से आयुर्वेद व होमियोपैथी के चिकित्सालयों को बड़ी आशा थी। स्वयं मोदीजी ने होमियोपैथी, आयुर्वेद व योग की दुहाई देकर वाहवाही लूटी है और उन्होंने वादा भी किया था कि देश में आयुष पद्धतियों का जाल बिछाकर मेडिकल टूरिज्म को प्रोत्साहित किया जाएगा। इसकी सम्भावना भी है और देश के लोगों को आयुष उपचार की जरूरत भी, लेकिन बजट में इसके लिए अलग से कोई प्रावधान नहीं किया गया है।

बजट में स्वास्थ्य प्रावधानों पर बारीकी से नज़र डालें तो "स्वास्थ्य बीमा" मोदीजी का एक नया जुमला प्रतीत होता है। अव्वल तो यह बीमा है जिसका सीधा लाभ बीमा कम्पनियों को मिलेगा हालाँकि सरकार ने अभी तक स्पष्ट नहीं किया है कि 50 करोड़ लोगों के इस स्वास्थ्य बीमा का प्रीमियम कौन भरेगा। एक मोटा अनुमान लगाएँ तो प्रति परिवार 5 लाख रूपये के बीमा का यदि सम्बन्धित परिवार 10वां हिस्सा यानि 50 हजार रुपये की सुविधा लेता है तो सालाना यह राशि 5 लाख करोड़ रुपये होगी। यदि यह राशि बीमा कंपनियां वहन करेंगी तो इसका सालाना

प्रीमियम 5 हजार से 15 हजार रुपये प्रति परिवार होगा यानि 50 हजार से 1.50 लाख करोड रुपया सालाना। यह राशि कहाँ से आएगी?

बहरहाल, शुरू से ही जुमलेबाजी कर रही इस सरकार के पास सम्भवतः यही तरीका और इन्तजाम है जनता को बहलाने के लिए। विगत 2013 से अब तक सरकार की लोकलुभावन घोषणाओं का लाभ जनता को तो मिला नहीं। हो सकता है चुनावी वर्ष में की गई इस घोषणा पर शायद सरकार गम्भीर हो, लेकिन अब तक लगातार झटके पर झटका झेलती जनता इसे हकीकत मानेगी या जुमला कुछ कहा नहीं जा सकता। इन्तजार करना ही बेहतर है, लेकिन इन्तजार करते वक़्त सतर्क भी रहिये।

(लेखक जन स्वास्थ्य विशेषज्ञ हैं और युवा संवाद पत्रिका के संपादक हैं)

श्रम

मोदी सरकार के चार साल के कार्यकाल में श्रम कानूनों की स्थिति

मोदी सरकार के कार्यकाल का चौथा वर्ष आते-आते इसकी नीतियों और हरकतों से जनता का असन्तोष बहुत बड़े पैमाने पर फैल चुका है। मोदी और भाजपा के "भक्तों" में से भी बहुतों का अलग-अलग कारणों से इससे मोहभंग तेज़ी से हो रहा है। हाल के उपचुनावों में भाजपा की करारी हार की तरह-तरह से व्याख्या हो रही है, लेकिन यह तो तय है कि लोगों का गुस्सा और हताशा बढ़ता जा रहा है। देशभर में छात्रों-युवाओं, मज़दूरों-कर्मचारियों, किसानों, आदिवासियों आदि के आन्दोलनों का सिलसिला लगातार जारी है। बेरोज़गारी सारे रिकॉर्ड तोड़ रही है, महँगाई कम होने के बजाय और बढ़ती जा रही है, चन्द बड़े घरानों का ज़रख़रीद मीडिया द्वारा ढँकने-छुपाने की तमाम कोशिशों के बावजूद हर दिन नये-नये घपले-घोटाले सामने आने से भाजपा के फ़र्ज़ी सदाचार की धोती और भी नीचे खिसकती जा रही है।

ऐसे में घबराया हुआ संघी गिरोह अगले चुनाव से पहले जनता का ध्यान भटकाने और साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण करने के लिए किसी भी हद तक जा सकता है। फ़ासिस्ट सत्ता में आने के बाद उसे अपने कब्ज़े में बनाये रखने के लिए कुछ भी कर सकते हैं। नौकरशाही, सेना-पुलिस, न्यायपालिका, चुनाव आयोग आदि को वे अपना दास पहले ही बना चुके हैं। नफ़रत और झूठ के अन्धाधुन्ध प्रचार से देशभर में उन्होंने जुनूनी अन्धभक्तों की ऐसी भीड़ खड़ी कर ली है जिसे नकली भावनात्मक मुद्दों की रौ में बहाकर वे कभी उपद्रव खड़े कर सकते हैं। दूसरी ओर, इनसे मुक़ाबला करने वाली संगठित शक्तियों का घोर अभाव है। समाज के अलग-अलग तबक़े अपनी-अपनी मुश्किलों से तंग आकर सड़कों पर उतर रहे हैं, लेकिन उनके पास इस संगठित फ़ासिस्ट संगठन, जिसके हाथ में अब राज्यसत्ता भी है, से मुक़ाबला करने के लिए ज़रूरी एकता, संगठन और दिशा नहीं है।

ऐसे में, सत्ता में बैठे फ़ासिस्ट अपने असली काम, यानी देशी-विदेशी पूँजीपतियों की सेवा करने में लगातार लगे हुए हैं। पूँजीवाद फ़ासिस्टों का सहारा लेता ही इसीलिए है क्योंकि आर्थिकसंकट के कारण उसे अपने मुनाफ़े को बचाये रखने के लिए ऐसी सत्ता की ज़रूरत होती है जो सारे नियम-क़ानूनों को ताक पर रखकर नंगई से उन्हें लूट की खुली छूट दे, मज़दूरों को जमकर निचोड़े और जनता के असन्तोष को काबू में करने के लिए उसे झूठे धर्म-नस्ल आदि के नारों पर बाँट और बहका सके।

मोदी सरकार के करीब चार साल के कार्यकाल में एक ओर तो देशी-विदेशी बड़ी कम्पनियों को इस देश की दौलत को दोनों हाथों से लूटने की छूट दी गयी है, दूसरी ओर मज़दूरों-कर्मचारियों के बचे-खुचे अधिकारों को भी छीनकर उन्हें पूरी तरह से थैलीशाहों के ख़ूनी पंजों के हवाले कर देने के इंतज़ाम किये जा रहे हैं। 'मज़दूर बिगुल' के पिछले अंकों में हम आपको ऐसे तमाम मज़दूर-विरोधी क़दमों के बारे में बताते रहे हैं। अब सरकार उद्योगों में स्थायी रोज़गार को लगभग पूरी तरह ख़त्म करने की दिशा में क़दम बढ़ा चुकी है। (सरकारी नौकरियों में लाखों पदों को एक झटके में बेकार बताकर ख़त्म करने की क़वायद तो शुरू ही की जा चुकी है।)

केन्द्र सरकार ने पिछले दिनों एक मसविदा अधिसूचना प्रकाशित जिसके ज़रिए औद्योगिक विवाद क़ानून और मॉडल स्टैंडिंग ऑर्डर के नियमों में संशोधन करके उद्योगों में 'फ़िक्स्ड टर्म नियुक्ति' को मंज़ूरी मिल जायेगी। इसके साथ ही कुछ राज्यों द्वारा औद्योगिक विवाद क़ानून में ऐसे संशोधनों को भी स्वीकृति दे दी गयी जिनके बाद 300 तक मज़दूरों को रखने वाली कम्पनियाँ सरकारी मंज़ूरी के बिना ही और बिना नोटिस दिये मज़दूरों-कर्मचारियों कीं छँटनी या कम्पनी को बन्द कर सकती हैं। अब तक अधिकांश राज्यों में यह सीमा 100 मज़दूरों की है। कॉरपोरेट सेक्टर ठेका मज़दूर प्रणाली को पूरी तरह क़ानूनी बनाने के लिए लम्बे समय से इस ''सुधार" के लिए दबाव बनाये हुए था। हालाँकि केन्द्र सरकार ने रेडीमेड गारमेंट और चमड़ा उद्योग में एक साल पहले ही इसे लागू करने की छूट दे दी थी, मगर नीति आयोग और पूँजीपतियों की अन्य संस्थाएँ सभी सेक्टरों में इसे लागू करने का दबाव डाल रही थीं। यह प्रावधान लागू हो जाने के बाद कम्पनियाँ अपनी ज़रूरत के मुताबिक कुछ हफ़्तों या कुछ महीनों के लिए मज़दूरों को काम पर रख सकती हैं और काम ख़त्म होते ही उन्हें बाहर निकाल सकती हैं। केन्द्र से नोटिफ़िकेशन जारी होने के बाद राज्य सरकारें भी इसके मुताबिक अपने श्रम क़ानूनों में आसानी से बदलाव कर सकती हैं।

'फ़िक्स्ड टर्म नियुक्ति' के तहत मज़दूरों को काग़ज़ पर उस कम्पनी में परमानेंट मज़दूरों के बराबर काम के घंटे, वेतन और भत्ते मिलेंगे लेकिन कॉन्ट्रैक्ट ख़त्म होने पर मज़दूर को दुबारा न लेने के लिए नियोक्ता पूरी तरह आज़ाद होगा, उसे कोई नोटिस भी नहीं देनी होगी। जहाँ तक परमानेंट मज़दूरों के बराबर सुविधाएँ मिलने की बात है, तो कारख़ानों की हालत से वाकिफ़ कोई भी व्यक्ति समझ सकता है कि ज़्यादातर मामलों में यह सुविधा काग़ज़ पर ही रहेगी। इसके अलावा, कम्पनियाँ अब किसी मज़दूर को ठेकेदार के बिना, सीधे 'फ़िक्स्ड टर्म नियुक्ति' पर रख सकती हैं।

केन्द्रीय मंत्रिमण्डल ने हाल ही में सभी सेक्टरों में 'फ़िक्स्ड टर्म नियुक्ति' लागू करने के पक्ष में तर्क दिया था कि "बड़े पैमाने पर दुनियाभर से पूँजी-निवेश को आकर्षित करने" के लिए ऐसा करना ज़रूरी है। सिर्फ़ इसी बात से समझा जा सकता है कि इस तथाकथित "श्रम सुधार" का असली मक़सद क्या है! दुनियाभर की कम्पनियाँ भारत में धरमखाता चलाने के लिए पूँजी-निवेश करने नहीं आयेंगी, वे आयेंगी यहाँ के सस्ते श्रम की मनचाही लूट से मुनाफ़ा बटोरने के लालच में।

मज़दूरों में असन्तोष, ट्रेड यूनियनों और कुछ विपक्षी दलों के विरोध के कारण केन्द्र सरकार जहाँ सीधे अपनी पहल पर श्रम क़ानूनों को नहीं बदल पा रही है, वहाँ चोर दरवाज़े से काम ले रही है। जहाँ भी सम्भव हो, अलग-अलग अधिसूचनाओं के ज़रिए नियमों में बदलाव किये जा रहे हैं जिनका लाभ उठाकर राज्य सरकारें अपने यहाँ क़ानूनों में बदलाव कर दे रही हैं। जहाँ भी केन्द्र को ख़ुद संशोधन करने में परेशानी हो रही है, वहाँ राज्यों को राज़ी किया जा रहा है कि मुख्यमंत्री स्तर पर हस्तक्षेप के ज़रिए श्रम क़ानून बदल दिये जायें। श्रम मंत्रालय के अधिकारियों का कहना है कि ऐसे बदलावों के प्रस्ताव आने पर केन्द्र सरकार उन्हें तुरन्त मंजूरी दे देती है।

राजस्थान, मध्यप्रदेश और असम जैसे राज्य पहले ही औद्योगिक विवाद क़ानून में संशोधन करके मज़दूरों की छँटनी, तालाबन्दी या कम्पनी पूरी तरह बन्द करने को आसान बना चुके हैं। महाराष्ट्र ऐसा ही क़ानून पारित करने की पूरी तैयारी कर चुका है जबकि गुजरात, हरियाणा और उत्तर प्रदेश इस महत्वपूर्ण क़ानून में बदलाव करने की तैयारी कर रहे हैं। देश के अधिकतर राज्यों में भाजपा की सरकारें होने से अब उनके लिए यह काम और आसान हो गया है। यूनियनों द्वारा उठायी गयी आशंका पर श्रम मंत्रालय के एक अधिकारी ने पिछले दिनों सफ़ाई दी कि "केन्द्र सरकार ऐसे उपाय करने की योजना बना रही है जिससे कम्पनियाँ प्रस्तावित 'फ़िक्स्ड टर्म नियुक्ति' के प्रावधान का लाभ उठाकर अपने स्थायी मज़दूरों को ठेका कर्मचारियों में न बदल पायें।" लेकिन जब सरकार पूरी तरह "बाज़ार की सच्चाइयों से मेल खाने" के नाम पर रोज़गार-सुरक्षा को ख़त्म करने पर आमादा हो तो ऐसे आश्वासनों का क्या मतलब होगा, इसे समझा जा सकता है।

पिछली फरवरी में इस मसले पर बुलायी गयी बैठक में आने वाले सभी 12 राज्य सरकारों के प्रतिनिधियों ने 'फ़िक्स्ड टर्म नियुक्ति' का समर्थन किया। तीन केंद्रीय यूनियनों – आरएसएस से जुड़े भारतीय मज़दूर संघ (बीएमएस), नेशनल फ्रंट ऑफ इंडियन ट्रेड यूनियन्स और ट्रेड यूनियन

कोआर्डिनेशन सेंटर ने भी इस क़दम का समर्थन किया। मालिकों की एसोसिएशनों की ओर से तो समर्थन होना ही था। अन्य यूनियनों ने यह कहकर मीटिंग से वॉक आउट किया कि केन्द्रीय बजट में इस क़दम की घोषणा करने से पहले उनसे राय-मशविरा नहीं किया गया। इनमें वामपंथी यूनियनों सीटू और एटक भी शामिल थीं। यानी उनका कुल विरोध इस बात से था कि ऐसे घनघोर मज़दूर-विरोधी क़दम की घोषणा करने से पहले उनसे पूछा क्यों नहीं गया! ये दल्ले पिछले तीन दशक से यही करते रहे हैं। मज़दूरों को बहलाने-फुसलाने के लिए विरोध का झूठा नाटक, और फिर हर मज़दूर-विरोधी क़दम को आराम से लागू होने देना। एक-एक करके मज़दूरों के सारे अधिकार छीन लिये गये और ये बस रस्मी विरोध का झुनझुना ही बजाते रह गये। जैसाकि देखने में आया है, असन्तोष बढ़ने के डर से सरकारें ऐसे क़ानूनों को एक झटके में और तेज़ी से लागू नहीं करती हैं। पहले इसके पक्ष में माहौल बनाया जाता है, फिर वामपंथी यूनियनें या कुछ विपक्षी दल विरोध का शोर उठाते हैं तो उसे कुछ समय के लिए टाल दिया जाता है, या थोड़ा हल्का कर दिया जाता है। या फिर ऐसे क़दमों को टुकड़े-टुकड़े में, थोड़ा-थोड़ा करके लागू किया जाता है। ऐसे में छिटपुट कुछ विरोध होता है तो उसे आसानी से दबा दिया जाता है और कुछ वर्षों में वह मज़दूर-विरोधी क़दम एक सामान्य बात के तौर पर स्वीकृत हो जाता है। ठेका प्रळाा को बड़े पैमाने पर ऐसे ही लागू कराया गया है। इस रूप में भी ये नकली वामपंथी मज़दूरों के दुश्मन और इस व्यवस्था के रक्षक साबित होते हैं।

कहने की ज़रूरत नहीं कि पूँजीपतियों की तमाम संस्थाएँ और भाड़े के बुर्जुआ अर्थशास्त्री उछल-उछलकर सरकार के इन प्रस्तावित बदलावों का स्वागत कर रहे हैं और कह रहे हैं कि अर्थव्यवस्था में जोश भरने और रोज़गार पैदा करने का यही रास्ता है। कहा जा रहा है कि आज़ादी के तुरन्त बाद बनाये गये श्रम क़ानून विकास के रास्ते में बाधा हैं इसलिए इन्हें कचरे की पेटी में फेंक देना चाहिए और श्रम बाज़ारों को "मुक्त" कर देना चाहिए। विश्व बैंक ने भी 2014 की एक रिपोर्ट में कह दिया था कि भारत में दुनिया के सबसे कठोर श्रम क़ानून हैं जिनके कारण यहाँ पर उद्योग व्यापार की तरक्की नहीं हो पा रही है। मोदी सरकार लगातार "ईज़ ऑफ़ डूइंग बिज़नेस" के नाम पर उन क़ानूनों में बदलाव लाने पर ज़ोर दे रही है जिनके कारण मज़दूरों की छुट्टी करना कठिन होता है।

बुर्जुआ और संसदमार्गी वामपंथी दलों से जुड़ी यूनियनें मजदूरों के अतिसीमित आर्थिक हितों की हिफ़ाज़त के लिए भी सड़क पर उतरने की हिम्मत और ताक़त दुअन्नी-चवन्नी की सौदेबाजी करते-करते खो चुकी है। वैसे भी देश की कुल मज़दूर आबादी में 90 फीसदी से अधिक जो

असंगठित मज़दूर हैं, उनमें इनकी मौजूदगी बस दिखावे भर की ही है। अब सफेद कॉलर वाले मजदूरों, कुलीन मजदूरों और सर्विस सेक्टर के मध्यवर्गीय कर्मचारियों के बीच ही इन यूनियनों का वास्तविक आधार बचा हुआ है और सच्चाई यह है कि नवउदारवाद की मार जब समाज के इस संस्तर पर भी पड़ रही है तो ये यूनियनें इनकी माँगों को लेकर भी प्रभावी विरोध दर्ज करा पाने में अक्षम होती जा रही है। बहरहाल, रास्ता अब एक ही बचा है। गाँवों और शहरों की व्यापक मेहनतकश आबादी को सघन राजनीतिक कार्रवाइयों के जरिए, जीने के अधिकार सहित सभी जनवादी अधिकारों के लिए संघर्ष करने के उद्देश्य से, उनके विशिष्ट पेशों की चौहद्दियों का अतिक्रमण करके, इलाकाई पैमाने पर संगठित करना होगा। दूसरे, अलग-अलग सेक्टरों की ऐसी पेशागत यूनियनें संगठित करनी होगी, जिसके अन्तर्गत ठेका मज़दूर और सभी श्रेणी के अनियमित मज़दूर मुख्य ताकत के तौर पर शामिल हों। पुराने ट्रेड यूनियन आन्दोलन के क्रान्तिकारी नवोन्मेष की सम्भावनाएँ अब अत्यधिक क्षीण हो चुकी हैं।

नवउदारवाद के दौर ने स्वयं ऐसी वस्तुगत स्थितियाँ पैदा कर दी हैं कि मज़दूर वर्ग यदि अपने राजनीतिक अधिकारों के लिए नहीं लड़ेगा तो सीमित आर्थिक माँगों को भी लेकर नहीं लड़ पायेगा। मज़दूर क्रान्तियों की पराजय के बाद मज़दूर आबादी के अराजनीतिकीकरण की जो प्रवृति हावी हुई है, उसका प्रतिरोध करते हुए ऐसे हालात बनाने के लिए अब माकूल और मुफीद माहौल तैयार हुआ है कि मज़दूर वर्ग एक बार फिर नये सिरे से क्रान्तिकारी राजनीतिक चेतना के नये युग में प्रवेश करे। जाहिर है, यह अपने आप नहीं होगा। इसके लिए सर्वहारा क्रान्ति के विज्ञान और आज के नये हालात (यानी नवउदारवाद के दौर में पूँजीवाद की नयी कार्यप्रणाली) का गहन अध्ययन और जाँच-पड़ताल करके सर्वहारा क्रान्तिकारियों के नये दस्तों को मैदान में उतरना होगा। आगे का रास्ता निश्चय ही लम्बा और कठिन है, लेकिन विश्व पूँजीवाद का मौजूदा असमाधेय ढाँचागत संकट बता रहा है कि पूँजी और श्रम के बीच संघर्ष का अगला चक्र श्रम की शक्तियों की निर्णायक विजय की परिणति तक पहुँचेगा। ऐसी स्थिति में लम्बा और कठिन रास्ता होना लाजिमी है, लेकिन हजार मील लम्बे सफर की शुरुआत भी तो एक छोटे से कदम से ही होती है।

पूँजीपतियों की लगातार कम होती मुनाफे की दर और ऊपर से आर्थिक संकट तथा मज़दूर वर्ग में बढ़ रहे बग़ावती सुर से निपटने के लिए पूँजीपतियों के पास आख़िरी हथियार फासीवाद होता है। भारत के पूँजीपति वर्ग ने भी नरेन्द्र मोदी को सत्ता में पहुँचाकर अपने इसी हथियार को आज़माया है। फासीवादी सत्ता में आते तो मोटे तौर पर मध्यवर्ग (तथा कुछ हद तक मज़दूर वर्ग

भी) के वोट के बूते पर हैं, लेकिन सत्ता में आते ही वह अपने मालिक बड़े पूँजीपतियों की सेवा में सरेआम जुट जाते हैं।

बात श्रम क़ानूनों को कमजोर करने तक ही नहीं रुकेगी, क्योंकि फासीवाद बड़ी पूँजी के रास्ते से हर तरह की रुकावट दूर करने पर आमादा होता है और यह सब वह ''राष्ट्रीय हितों" के नाम पर करता है। फासीवादी राजनीति पूँजीपतियों के लिए काम करने और उनका मुनाफ़ा बढ़ाने को इस तरह पेश करती है कि यही देश के लिए काम करना, देश को ''महान" बनाने के लिए काम करना है। इसके लिए सभी को बिना कोई सवाल-जवाब किये, बिना कोई हक़-अधिकार माँगे काम करना पड़ेगा। लोग अपनी तबाही-बर्बादी के बारे में सोचें नहीं, इसके विरोध में एकजुट होकर लड़ें नहीं, इसी मकसद से तरह-तरह के भावनात्मक मुद्दे भड़काये जाते हैं और धार्मिक बँटवारे किये जाते हैं। देश के मेहनतकशों को अपने अधिकारों पर इस खुली डकैती के ख़िलाफ़ लड़ना है या आपस में एक-दूसरे का सिर फुटौवल करना है, यह फ़ैसला उन्हें अब करना ही होगा।

(मज़दूर बिगुल, मार्च 2018)

श्रम

श्रम और पलायन

शिवाजी राय

उस समय में जब उत्पादन का मुख्य साधन कृषि हुआ करता था तब गंगा के मैदानी भाग में जीवनपयोगी वस्तुओं का उत्पादन सरल था, निश्चित ही जीवन भी सहज ही था और इन परिस्थितियों में घनी आबादी होना भी लाज़मी था। आपात स्थितियों में भी लोग विभिन्न क्षेत्रों से आकर यहीं बसे जबकि आजादी के पहले ही औद्योगिक विकास की बातें चल पड़ी थी और ब्रितानी सरकार द्वारा जगह-जगह व्यापारिक केंद्र भी बनाये गए थे लेकिन इसमें इलाके में सभी संसाधनों की उपलब्धता के बावजूद भी अंग्रेजी सरकार ने यहाँ कोई व्यापारिक केंद्र की स्थापना नही की। संभवतः इसका मुख्य कारण राष्ट्रीय आन्दोलन में इस क्षेत्र की सबसे सक्रिय भूमिका मानी जा सकती है। इसके बावजूद यहाँ के लोगों ने कृषि आधारित उद्योगों की स्थापना के लिए अपनी जमीन ,श्रम और उत्पाद को मुहैया करा के अपने आर्थिक तंत्र को मज़बूत करने का प्रयास किया और लघु व कुटीर उद्योगों की स्थापना में सफल रहे जिससे यहाँ रोजगार का सृजन हुआ।

आजादी के बाद भी बड़े पैमाने पर उद्योगों की स्थपाना हुई। तब तक यह धारणा बलवती हो चुकी थी कि सिर्फ खेती किसानी से काम नहीं चलेगा और रोजगार के अवसरों को बढाने के लिए बड़े उद्योगों की स्थापना आवश्यक है। उसका विस्तार भी तेज़ी से हुआ। मगर उस बदले परिवेश में भी इन क्षेत्रों में न ही नए उद्योग स्थापित हुए और न ही इस विशाल भूभाग के संरचनात्मक विकास पर कोई ध्यान दिया गया और अतिघनी आबादी वाले इस इलाके के लोगों को नई आर्थिक नीतियों ने घर बार छोड़ कर देश के सूदूर इलाके तथा विदेशों में भी भाग कर के जाने को विवश किया। देखने में बहुत साधारण सा लगता है कि एक व्यक्ति अपने घर से रोटी कमाने निकलता है। मगर जब कोई व्यक्ति घर छोड़ता है तो अपनी पीढ़ियों की विरासत अपनी संस्कृति ,अपना समाज और अपनी पहचान को तिलांजलि देकर और अपनी भावनाओं को मारकर के ही उसे जाना पड़ता है। अपने ही देश में अलग-अलग इलाकों में कही बिहारी कहीं पुरबिया कहीं भैया के नाम से जाना जाता है और उस बीच उसकी अपनी पहचान समाप्त हो जाती है। उसे हिकारत की नजर से देखते हैं ,बुलाते हैं। ऐसा नहीं है कि इस देश के निर्माण में इनका योगदान नहीं है। जब देश के विकास का विश्लेषण करें तो पाएंगे कि आज जो देश का ढांचा दिखाई दे रहा है- चाहे बात अवस्थापना विकास रेलवे दूरसंचार की हो या आयात निर्यात आत्मनिर्भरता की- श्रम के लिहाज से और खून पसीना बहाने में सबसे ज्यादा योगदान इन पलायित मजदूरों का है जो देश बनाने का जज्बा लेकर मेट्रों शहरों के गली कूंचो में भटकते हुए आपको मिल जायेंगे।

दुर्भाग्यवश हम देखते हैं कि देश और समाज के निर्माण में सर्वाधिक योगदान करने वाला व्यक्ति मेट्रो सिटी में गंदे नालों के किनारे छोटी छोटी झुग्गियों में बड़ी संख्या में रहता है जहां साँस लेना मुश्किल

होता है और वहां स्वच्छ वातावरण के अभाव में टीबी और कैंसर जैसी गंभीर बीमारियों के वे शिकार हो जाते हैं। जिस मेट्रो सिटी में गगनचुम्बी टावर और बंगलो का अम्बार लगा हुआ है और लाखों की संख्या में मकान खाली हैं वहीं कहीं कहीं तो सड़क के किनारे फुटपाथ पर सोने के लिए भी जगह कब्ज़ा करना पड़ता है जहां लोग हिट एंड रन में अपनी जान गंवा देते हैं। और उसी के सामने यह प्रश्न खड़ा कर दिया जाता है कि सड़क के फुटपाथ क्या सोने के लिए बने हैं ?

यह सवाल उस व्यक्ति से नहीं व्यवस्था से होना चाहिए। चूँकि यह सवाल महलों और बंगलों से निकलते हैं और हवेली में रहने वाले लोगों को इस व्यवस्था ने भरपूर संरक्षण दिया है इसलिए उनकी हिम्मत नहीं पड़ती कि व्यवस्था से यह प्रश्न कर सके। हमें याद है पंजाब में आतंकवाद चरम पर था तो सबसे ज्यादा उसका प्रभाव उन पुरबिया और बिहारी मजदूरों पर पड़ा। न वहां की सरकार ने उन्हें संरक्षण दिया न ही उत्तर प्रदेश व बिहार सरकार के कानों पर जू रेंगी। महाराष्ट्र के राजनैतिक महत्वाकांक्षी लोग अपनी राजनैतिक रोटियां सेकने के लिए जिन मजदूरों को गालियाँ देते हैं वे गालियाँ सुनने वाले यही पलायित मजदूर हैं जिनको न तो केंद्र न ही राज्यों की सरकार कोई संरक्षण देती है। दिल्ली में शीला दीक्षित जैसी मुख्यमंत्री भी अपने कार्यकाल में पुरबिया और बिहारियों के लिए दिल्ली में आकर' सड़ांध 'पैदा करने के आरोप लगा कर यह फरमान जारी करती हैं कि दिल्ली में प्रवेश से पहले पुरबिया और बिहारियों के लिए गाँव के प्रधान या मुखिया से सर्टिफिकेट लिखवाना जरुरी है और खुले तौर पर उनके साथ दोयम दर्जे के नागरिकों सा व्यवहार किया जाता है।

आज भी 17 वर्ष से लेकर के 30 वर्ष के नौजवानों का पलायन जारी है जिनमें साक्षर से लेकर ग्रेजुएट , पोस्टग्रेजुएट) बीए, बीटेक, एमबीए आदि (सभी क्षेत्र के स्किल्ड, नॉन स्किल्ड युवा देश के कोने कोने में छोटे बड़े शहरों में पेट की भूख को मिटाने के लिए काम की तलाश में दिन रात एक कर के मारे मारे फिर रहे हैं। आलम ये है कि उन नौजवानों को सारे श्रम कानूनों को ताक पर रखकर अनलिमिट टाइम और मिनिमम मजदूरी से भी कम पैसे देकर काम कराया जाता है और ये शिक्षित युवा बेरोजगार अपनी सारी पहचान खोकर मालिकों की शर्त पर काम करने को मजबूर हैं। चाहे इस देश में शाइनिंग इण्डिया की बात हो या अब न्यू इंडिया की। ये सभी बातें छलावा साबित हो रही हैं। और अब तो सभी कोशिशें येन केन प्रकारेण सत्ता पर कब्ज़ा करने के लिए सभी राजनीतिक दलों द्वारा की जा रही है। हम जातीय धार्मिक और क्षेत्रीय अस्मिता के नाम पर खड़े हुए संगठनों और उनके लिए लठैती करने वाले लोगों से पूछना चाहते हैं कि आप के घर से पलायन करके गया वह नौजवान जो देश के कोने कोने में भटकता ,ठोकरें खाता ,बेहूदे लोगों की गालियां सुनता ,पुरबिया बिहारी भैया के नाम पर प्रताड़ित होता ,क्षेत्रवाद के नाम पर भगाया जाता ,अरब अमीरात खली बली घोषित किया जाता है और पुलिस के द्वारा प्रताड़ित किया जाता है ,तो वह नौजवान आपकी जाति का ,आपके धर्म का, आपके समाज का ,आपके क्षेत्र का है या नहीं। जब उप्र और बिहार में आपका जातीय और धार्मिक सम्मान जगता है तो बन्दूक और बम चलते हैं तो आपके बीच के अपने भाई भतीजे और अपने बंधु अपने ही देश में अपनी पहचान के लिए तड़पता है तो आपकी सत्ता की ताकत और आप के ये बम और बन्दूक क्यों धरे रह जाते हैं।

देश और प्रदेश की सरकारों के सामने यह सवाल है कि देश की बहुतायत जनता जो पलायित है और अपनी पहचान खोकर भी देश के निर्माण में सब कुछ समर्पित करने के बाद भी उनकी जगह गंदे नाले के किनारे है, जेल से बदतर अवस्था में झोपडियां जिनमें पैर फ़ैलाने की जगह नहीं होती और सड़क की पटरियां ही उनके सोने की जगह हों, तो आपकी भारी भरकम व्यवस्था और लाखों करोडों का बज़ट और देश का संविधान ,बहुत सारे कानून ,ये बहुत सारे विकास के भारी भारी मॉडल ,ऊंची ऊंची घोषणाएं किसके लिए हैं? और जो वर्षों से लगातार अपनी पहचान के लिए संघर्ष कर रहे हैं उन नौजवानों मजदूरों को अभी और कितना संघर्ष करना पड़ेगा और यह व्यवस्था कम से कम उन्हें मनुष्य की श्रेणी में कब तक लाकर खड़ा करेगी या कब तक वे मनुष्य के रूप में जाने जायेंगे और कब तक इनके श्रम की लूट होती रहेगी?

(लेखक किसान मजदूर संघर्ष मोर्चा के अध्यक्ष हैं)

विशेष

जीडीपी की बाज़ीगरी और आंकड़ों की गुलाटी सरकार बहादुर को बहुत भारी पड़ सकती है

प्रकाश के रे

तीन साल पहले मोदी सरकार ने जब जीडीपी तय करने के मानदंड बदले थे और ग्रोथ रेट अचानक सात फ़ीसदी के आसपास पहुँच गई थी, तब मॉर्गन स्टेनली इंवेस्टमेंट मैनेजमेंट के चीफ़ ग्लोबल स्ट्रेटेजिस्ट रुचिर शर्मा ने टाइम्स ऑफ़ इंडिया में एक लेख लिखा था। उस लेख का शीर्षक ही था कि दुनिया इस फ़ालतू चुटकुले पर हँस रही है। बहरहाल, सरकार बहादुर ने आज तक यह नहीं बताया है कि जीडीपी तय करने के नये तरीक़े के हिसाब से उससे पहले की दरें क्या ठहरती हैं। साल 2015 में जो आर्थिक सर्वे जारी हुआ था, उसमें सर्वे के लेखक यानी मुख्य आर्थिक सलाहकार ने ही उसे 'पज़लिंग' यानी उलझाऊ बताया था। उस समय आठ फ़ीसदी के ग्रोथ का आकलन किया गया था। साल 2014 के दिसंबर में लंबित परियोजनाओं के जो आँकड़े भारत सरकार ने दिए थे, वह दो माह बाद उस आर्थिक सर्वे में आधे से भी कम हो गये थे। यह भी याद करना दिलचस्प है कि सर्वे की भूमिका में ही यह बात लिख दी गयी थी कि इसे तैयार करने में सतही और ऊपरी समझ का भी काम लिया गया है।

वर्ष 2015 की ही जुलाई में रिज़र्व बैंक के तत्कालीन गवर्नर ने चिंता ज़ाहिर की थी कि अच्छे अर्थशास्त्रियों की कमी से नीति-निर्धारण की प्रक्रिया पर नकारात्मक असर पड़ रहा है। राजन ने इस साल जनवरी में कहा था कि वे इस बात को लेकर आशंकित है कि कुछ गिने-चुने लोग ही तो कहीं सारे फ़ैसले नहीं ले रहे और ब्यूरोक्रेसी को इससे बाहर रखा जा रहा है।
ख़ैर, सरकारों द्वारा आँकड़ों के साथ छेड़छाड़ और ग़लतबयानी कोई नया हादसा तो है नहीं। बजट में पेश आँकड़ों पर सवाल उठ चुके हैं, रोज़गार पर झूठ बोलना तो सरकार का मुख्य रोज़गार ही बना हुआ है। वित्तीय घाटे पर भी गोलमोल और गोलमाल की आशंका है। लेकिन क्या किया जाये! विकास राष्ट्रीय सनक बना हुआ है। एक बानगी देखिये। कोई बता रहा था कि बिहार के मुख्यमंत्री नीतीश कुमार ने यह भी दावा कर दिया है कि बिहार दुनिया में सबसे अधिक दर से विकास कर रहा है। एक भोजपुरी कहावत बारहा याद आ जाती है- मूस मोटईहें, लोढ़ा होईहें…!

अब आते हैं जीडीपी के ताज़ा आँकड़ों पर, जिसकी बिना पर कहा जा रहा है कि हम चीन से आगे निकल गए। निकल भी सकते हैं। चीन तो आँकड़ों की बाज़ीगरी में हमसे बहुत आगे है। आर्थिक मसलों पर तीक्ष्ण नज़र रखने वाले मुकेश असीम ने हिसाब लगा कर कुछ समझाने का प्रयास किया है:

“अक्टूबर-दिसंबर, 2017 में 7.2% वृद्धि दर पिछले साल की तिमाही अक्टूबर-दिसंबर, 2016 की तुलना में है। अक्टूबर-दिसंबर, 2016 में नोटबंदी की वजह से अप्रत्यक्ष कर की वसूली कम हुई थी। इस बार की सामान्य वसूली उसके मुकाबले 13% वृद्धि दिखा रही है। टैक्स वसूली भी जीडीपी का हिस्सा है। यही 13% अधिक कर वसूली जीडीपी की रफ़्तार में एक कारक है। दूसरे, पिछली बार नकदी की कमी से सोने-चाँदी में ख़रीदी कम हुई थी, इस बार बहुमूल्य वस्तुओं में 70% की उछाल है – 1.59 लाख करोड़ रुपये से 2.72 लाख करोड़! मतलब, लोग उत्पादक निवेश नहीं कर रहे हैं और न ही उपभोग में ख़र्च कर रहे हैं, बल्कि आर्थिक संकट से घबराये होने की वज़ह से पैसा सोने-चाँदी में लगा रहे हैं। इन दोनों कारकों को निकाल दें, तो जीडीपी की दर शायद पाँच फ़ीसदी के आसपास हो जायेगी”।

वित्तीय ब्रोकरेज का काम करनेवाली संस्था नोमुरा ने भी नये आँकड़ों पर गंभीर सवाल उठाये हैं। आँकड़े कहते हैं कि कृषि क्षेत्र में 4.1 फ़ीसदी की बढ़त भरोसेमंद नहीं है। इससे पहले की तिमाही में इस क्षेत्र में विकास दर मात्र 2.7 फ़ीसदी रही थी। स्क्रॉल में शोएब दानियाल ने याद दिलाया है कि 2016-17 की तिमाही में भी वृद्धि दर सात फ़ीसदी बताई गई थी, जबकि तब नोटबंदी का क़हर जारी था। उस समय नोमुरा ने जीडीपी के आँकड़ों को ‘फ़ैक्ट या फ़िक्शन’ कहते हुए रेखांकित किया था कि जीडीपी निर्धारित करते हुए संगठित क्षेत्र के आँकड़ों पर अत्यधिक निर्भरता सही नहीं है।

नये आँकड़ों पर अर्थशास्त्री प्रसेनजित बोस ने विस्तृत टिप्पणी करते हुए इस क़वायद को मोदी सरकार की हेराफ़ेरी बताया है। उन्होंने रेखांकित किया है कि मुख्य सांख्यिकी अधिकारी (सीएसओ) के आकलन में वित्त वर्ष 2017-18 की वृद्धि दर 6.6 फ़ीसदी अनुमानित की गई है, जो कि 2016-17 के 7.1 फ़ीसदी से नीचे है। इस बार के आर्थिक सर्वे में वृद्धि दर 6.75 फ़ीसदी आकलित की गई है और सीएसओ का अनुमान उससे कम है। डॉ. बोस ने भी कृषि क्षेत्र में अचानक उछाल के अनुमान पर आश्चर्य जताया है। उन्होंने कहा है कि मैनुफैक्चरिंग में बढ़त ज़रूर है, पर इसमें भी आँकड़े उलझाऊ हैं। पहली बार सरकार बता रही है, वह भी चुपचाप, कि इस क्षेत्र में ग्रॉस वैल्यू एडेड ग्रोथ इस वित्त वर्ष की पहली तिमाही में नकारात्मक- (-)1.8% था। ख़ैर, आकलन बताते हैं कि इस क्षेत्र में भी सालाना जीवीए वृद्धि दर घट कर 7.9 फ़ीसदी से पाँच फ़ीसदी के स्तर पर आ जायेगी।

फ़िक्स्ड कैपिटल फ़ॉर्मेशन के आँकड़ों पर डॉ. प्रसेनजित बोस ने सबसे अधिक आश्चर्य जताया है। ये आँकड़े इसलिए महत्वपूर्ण होते हैं कि इनसे अर्थव्यवस्था में निवेश की सही स्थिति का पता चलता है। बोस कहते हैं कि सीएसओ ने जो आकलन जनवरी, 2018 में दिया था, उनमें बीते तीन वित्तीय वर्षों में निवेश के हिसाब-किताब में गिरावट दर्ज की गई थी, लेकिन कमाल देखिये, उसी सीएसओ द्वारा फ़रवरी, 2018 में निवेश के क्षेत्र में सकारात्मक तस्वीर बना कर पेश कर दी गई है। यह भी उल्लेखनीय है कि अनेक जानकारों ने संकेत किया है कि बजट में सरकार ने

जीएसटी राजस्व के आँकड़ों को इधर-उधर कर राजस्व में एक ट्रिलियन रुपये से अधिक की कमी को छुपा लिया है। इसका सीधा असर वित्तीय घाटे पर होगा।

आश्चर्य की बात यह है कि ताज़ा आँकड़ों की रोशनी में ख़बर तो यह होनी चाहिए थी कि वास्तव में इस साल की वृद्धि दर पहले के अनुमानों से कम रहेगी। लेकिन, जैसे बजट के समय असली तस्वीर के बजाय हज़ारों-लाखों-करोड़ों के आवंटन को हेडलाइन बना कर परोसने में मीडिया माहिर हो चला है, उसी तरह वह भी वृद्धि दर के जुमलों को उछालने में ज़्यादा दिलचस्पी लेता है। सरकार आर्थिक स्थिति को सुधारने पर ध्यान देने के स्थान पर जनता को सब्ज़बाग़ दिखाने में अधिक व्यस्त है। आँकड़े, तथ्य, सूचनाएँ और उनकी व्याख्या लोकतंत्र के बचे-बने रहने के लिए ज़रूरी हैं। इनमें कलाबाज़ी और करतब दिखाना बेहद महँगा पड़ सकता है।

6.3% या 4.7% ? आँकड़ों के खेल में छिपा जीडीपी का सच!

अर्थव्यवस्था में भारी सुधार की खबरें फिर चल पड़ी हैं। इसकी सच्चाई को भी सरकारी प्रेस नोट के जरिये जान लेते हैं (नीचे दिया है)।

नीचे वाली सारणी– खर्च के आधार पर जीडीपी वाली– को ध्यान से देखें तो निजी/सरकारी खर्च, आयात-निर्यात, मूल्यवान वस्तुओं के हिस्से में कुछ खास फर्क नहीं है। स्थायी पूंजी में नया निवेश (GFCF) तो और भी घटा है| फिर जीडीपी वृद्धि दर कैसे बढ़ी?

2016 की दूसरी तिमाही के मुकाबले कुल जीडीपी 3,46,589 करोड़ बढ़ी है जिसमें से 59284 करोड़ या कुल जीडीपी का 1.4% विसंगति या गड़बड़ी (discrepancy) है जो कुल वृद्धि का 17.10% है। इसे निकाल दिया जाये तो असली नॉमिनल जीडीपी वृद्धि सरकारी आंकड़े 9.4% के बजाय बनती है 7.8%; अब इसमें से 3.1% मुद्रास्फीति या deflator निकालने के बाद वृद्धि 6.3% नहीं बल्कि 4.7% ही रह जाती है।

यह विसंगति आती कहां से है? यह जीडीपी खर्च के आंकड़ों से गणना कर बनाई गई है पर यह आमदनी के आंकड़ों से मेल नहीं खाती| इस फर्क को ही विसंगति कह दिया जाता है। यह आंकड़ों की बाजीगरी में वक्त ज़रूरत काम आता है, जैसे कि गुजरात चुनाव के ठीक पहले हुआ था!

PRESS_NOTE-Q2_2017-18.pdf

This Press Release is embargoed against publication, telecast or circulation on internet till 5.30 pm today i.e. 30th November 2017.

STATEMENT 3: QUARTERLY ESTIMATES OF GVA AT BASIC PRICES IN Q2 (JULY-SEPTEMBER) OF 2017-18

(at current prices)

Industry	GVA at Basic Price (₹ in crore)						Percentage change over previous year			
	2015-16		2016-17		2017-18		2016-17		2017-18	
	Q1	Q2	Q1	Q2	Q1	Q2	Q1	Q2	Q1	Q2
1.agriculture,forestry&fishing	487463	411860	535817	453016	537540	469624	9.9	10.0	0.3	3.7
2.mining & quarrying	89202	62948	74069	57256	82270	64661	-17.0	-9.0	11.1	12.9
3.manufacturing	510270	513542	561546	557478	583080	610611	10.0	8.6	3.8	9.5
4.electricity,gas,water supply & other utility services	80345	83635	84781	85543	91306	90509	5.5	2.3	7.7	5.8
5.construction	257820	240308	263908	253148	275466	266501	2.4	5.3	4.4	5.3
6. trade, hotel, transport, communication & services related to broadcasting	554319	542097	599817	589846	686195	661949	8.2	8.8	14.4	12.2
7.financial, insurance, real estate & professional services	690702	774052	768015	856073	837108	928437	11.2	10.6	9.0	8.5
8.Public administration, defence& other services	380690	435775	428746	499351	484492	548129	12.6	14.6	13.0	9.8
GVA at Basic Price	**3050811**	**3064217**	**3316698**	**3351712**	**3577457**	**3640421**	**8.7**	**9.4**	**7.9**	**8.6**

STATEMENT 4: QUARTERLY ESTIMATES OF EXPENDITURES OF GDP IN Q2 (JULY-SEPTEMBER) OF 2017-18

(at current prices)

Item	Expenditures of Gross Domestic Product (₹ in crore)						RATES OF GDP (%)			
	2015-16		2016-17		2017-18		2016-17		2017-18	
	Q1	Q2	Q1	Q2	Q1	Q2	Q1	Q2	Q1	Q2
1. Private Final Consumption Expenditure (PFCE)	1823568	1883076	2042054	2106743	2226885	2304645	57.4	57.3	57.3	57
2. Government Final Consumption Expenditure (GFCE)	357350	418342	433530	507156	519320	543314	12.2	13.8	13.4	13.5
3. Gross Fixed Capital Formation (GFCF)	978519	969396	1036732	997746	1068642	1060787	29.2	27.1	27.5	26.4
4. Change in Stocks	74613	75091	81641	81050	83610	87945	2.3	2.2	2.2	2.2
5. Valuables	44737	50605	37948	44450	108658	78119	1.1	1.2	2.8	1.9
6. Exports	671293	687100	687415	708729	708680	733272	19.3	19.3	18.2	18.2
7. *Less* Imports	757976	795275	746878	765671	860680	840618	21.0	20.8	22.2	20.9
8. Discrepancies	28174	38139	-17506	-4413	28666	54871	-0.5	-0.1	0.7	1.4
GDP	**3220278**	**3326474**	**3554938**	**3675789**	**3883781**	**4022335**	100.0	100.0	100.0	100.0
GDP *(Percentage change over previous year)*			**10.4**	**10.5**	**9.3**	**9.4**				

7

खेती-किसानी

बम्पर उत्पादन के बावजूद विदेश से गेहूं का आयात किसानों के लिए लेकर आया है तबाही!

हरे राम मिश्र

प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी द्वारा वर्ष 2022 तक देश के किसानों की आय दोगुनी करने, उनके फसल लागत का पचास प्रतिशत लाभ सुनिश्चित करने और किसानों को आत्मनिर्भर बनाने के सरकारी दावों के बीच, इस खबर को कतई सामान्य नहीं कहा जा सकता कि एक कृषि प्रधान देश में गेहूं का आयात ठीक ऐसे समय पर हो रहा है जबकि बंपर पैदावार हुई है।

दरअसल केन्द्र सरकार ने गेहूं के आयात पर मात्र दस फीसद का सांकेतिक शुल्क लगा कर उसके आयात को मंजूरी दे रखी है। वर्तमान समय में वैश्विक बाजार में गेहूं की पर्याप्त उपलब्धता है। लेकिन मांग में कमी होने की वजह से गेहूं की कीमतें एकदम सतह पर हैं। ऐसे समय में यह आयातित गेहूं देश में उपलब्ध घरेलू गेहूं से न केवल सस्ता है, बल्कि आयात शुल्क चुकाने के बावजूद स्थानीय बाजार में किसानों के गेहूं के मुकाबले काफी सस्ता बिक रहा है। ऐसी स्थिति में अनाज कारोबारियों द्वारा गैर गेहूं उत्पादित राज्यों में इस आयातित गेहूं की भरपूर सप्लाई की जा रही है। इसका असर यह है कि गेहूं उत्पादक राज्यों की स्थानीय गल्ला मंडियों में गेहूं के दाम बहुत गिर गए हैं और वर्तमान समय में यह सरकार के न्यूनतम समर्थन मूल्य से भी नीचे चला गया है।

उदाहरण के लिए गेहूं की एक बड़ी मंडी उत्तर प्रदेश है। यहां आज-कल 1400 से 1500 रुपए प्रति कुंतल से ज्यादा गेहूं के खुदरा दाम नहीं है। जबकि पिछले साल के लिए गेहूं का एमएसपी दर 1625 रुपए प्रति कुंतल था। इस सीजन में गेहूं के दाम न बढ़ पाने के पीछे इसी आयातित गेहूं को जिम्मेदार माना जा रहा है। वास्तविकता यह है कि सरकारी खरीद कुल पैदावार के मुकाबले महज 20 फीसद के आस पास ही हो पाती है। बाकी गेहूं खुले बाजार में किसान अपनी सुविधा और जरुरत के हिसाब से बेचते हैं। यह सीजन इन किसानों के लिए उपयुक्त होता है, लेकिन आयातित गेहूं बाजार में डंप होने के किसानों को घरेलू स्तर पर न्यूनतम समर्थन मूल्य भी नहीं मिल पा रहा है।

यही नहीं, हालात अभी और खराब होंगे। मीडिया में आयी खबरों के मुताबिक इस समय 15 लाख टन गेहूं देश के बंदरगाहों तक आ चुका है और इससे बहुत ज्यादा गेहूं के आयात का आर्डर दिया जा चुका है जो किसी भी वक्त बंदरगाहों तक पहुंच सकता है। हालात की गंभीरता का अंदाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि स्थानीय गल्ला व्यवसायी घरेलू गेहूं की खरीद में कोई रुचि नहीं दिखा रहे हैं और गेहूं उत्पादक किसानों को न्यूनतम समर्थन मूल्य से भी हाथ

धोना पड़ रहा है। सरकारी स्तर पर भी गेहूं की खरीद बंद होने के बाद किसानों को न्यूनतम समर्थन मूल्य सुनिश्चित करने के मामले में चुप्पी साध ली गई है। ऐसी स्थिति में बाजार के रहमोकरम पर निर्भर होने के सिवाए किसानों के समक्ष कोई विकल्प ही नहीं है।

आयातित गेहूं के कारण सिर्फ किसान ही मुसीबत में नहीं हैं, बल्कि सरकार के सामने भी आसन्न संकट मुंह फैलाए खड़ा हुआ है। दरअसल मौसम की अनुकूलता के चलते पिछले रबी सीजन में गेहूं की पैदावार सर्वाधिक लगभग दस करोड़ टन थी। उसी के अनुरुप सरकारी एजेंसियों ने गेहूं की खरीद भी की थी। पंजाब, हरियाणा और मध्य प्रदेश की तर्ज पर उत्तर प्रदेश ने भी जमकर सरकारी खरीद की गई। इसके चलते सरकारी गोदाम भर गये। अभी संकट यह है कि भारतीय खाद्य निगम अपने गोदाम में भरे गेहूं को खुले बाजार में बेचने का कई प्रयास कर चुका है लेकिन जिस कीमत पर वह इसकी इसकी बिक्री चाहता है उसके लिए खरीददार ही उपलब्ध नहीं हैं। अब जब निगम के गोदाम खाली नहीं होंगे तब यह साफ है कि नई फसल को सरकार खरीद कर कहां रखेगी? जाहिर है नयी फसल के लिए सरकार ईमानदारी से गेहूं की खरीद नहीं करेगी।

यही नहीं, चालू रबी सीजन के लिए सरकार ने गेहूं का एमएसपी(न्यूनतम समर्थन मूल्य) 1735 रुपये प्रति कुंतल तय किया है। इसे देखते हुए विदेशी गेहूं का आयात और तेज हो जाएगा। जाहिर है यह सब घरेलू जिंस बाजार को ही नुकसान पहुंचाएगा और इसके अंतिम शिकार इस देश के किसान ही होंगे।

दरअसल, गेहूं उत्पादक किसानों का यह वर्तमान संकट उस दर्शन को सिरे से अप्रासंगिक साबित कर देता है जो इस बात पर जोर देता है कि उत्पादन बढ़ाकर देश के किसानों को खुशहाल बनाया जा सकता है। दरअसल ऐसी बातें करने वाले लोगों के पास इस सवाल का कोई जवाब नहीं होता कि आखिर मंहगे हो रहे उत्पादन लागत के बाद, बंपर उत्पादन की सारी मलाई बिचैलियों के जेब में क्यों चली जाती है? सरकार के स्तर से ज्यादा उत्पादन की स्थिति में किसानों के लिए लाभकारी मूल्य की गारंटी क्यों नहीं की जाती? चाहे टमाटर हो या फिर प्याज- बंपर उत्पादन करने का नुकसान सदैव किसानों के जिम्मे क्यों आता है? आखिर असल संकट कहां है और उसपर बात करने से राजनीति कतराती क्यों है?

दरअसल, इस देश में खेती और अन्नदाता के संकट पर हमारी राजनीति ने कभी भी ईमानदारी नहीं दिखायी। उदारीकरण के बाद खेती साल दर साल खस्ता होती चली गई। सरकारों ने विकास के नाम पर जितने भी सपने इस देश को दिखाए उन सबके केन्द्र में खेती और किसान कभी नहीं रहे। चाहे वह कांग्रेस की सरकार हो या फिर मोदी सरकार, किसी ने भी ईमानदारी से खेती की तबाही को रोकने की पहल नहीं की। कर्ज के दुष्चक्र में फंसे किसानों को निर्मम बाजार में धकेल दिया गया जिसने इनका खून तक चूस लिया। यह उदारीकरण की ही त्रासदी है कि बहुराष्ट्रीय कंपनियों की वैश्विक लाॅबिंग ने खेती को तबाह करने के अभियान स्वरूप भारतीय

बाजार में सस्ते गेहूं को डंप करवा दिया है। इससे यह तय है कि इस साल फिर किसान तबाह हो जाएंगे और गेहूं उत्पादन से उनका मोह भंग हो जाएगा। यह तबाही किसानों के क्रय शक्ति को भी बुरी तरह से प्रभावित करेगी जिसका नुकसान देश की अर्थव्यवस्था को उठाना होगा। वास्तव में यह सब एक प्रायोजित तरीके से देश का खाद्य सुरक्षा चक्र को खत्म करने के लिए किया जा रहा है। किसानों की तबाही के बाद, वह दिन दूर नहीं जब हम अपनी खाद्य सुरक्षा के लिए बहुराष्ट्रीय कंपनियों पर आश्रित होंगे। ऐसी स्थिति में देश की सवा अरब जनता भूख से बिलाबिला जाएगी और इसके लिए हमारी जनविरोधी राजनीति जिम्मेदार है।

सवाल और भी हैं। आखिर यह कैसा राष्ट्रवाद है जो इस देश के किसानों को रौंदकर आगे बढ़ना चाहता है? आखिर कारपोरेट लाबिंग के आगे मोदी सरकार घुटने क्यों टेक दे रही है? क्या उसकी प्राथमिकता में इस देश के कर्जदार किसानों की जगह मुनाफाखोर बहुराष्ट्रीय कंपनियां नहीं हैं? आखिर कर्ज के बोझ तले दबकर मौत को लगे लगा रहे किसानों को जब यह सरकार उनकी फसलों का न्यूनतम समर्थन मूल्य तक दिलवाना सुनिश्चित नहीं कर पा रही है फिर किसानों की आय दोगुना करने जैसी बातें क्या केवल हास्यास्पद और दिवास्प्न नहीं हैं?

दरअसल आज हम जिस माहौल में जी रहे हैं वहां संकटग्रस्त खेती और तबाह होते किसानों पर सोचना देशद्रोह की श्रेणी में रख दिया गया है। जब राष्ट्रवाद का आक्रामक दौर चल रहा हो और सरकार को ही देश मान लेने की खतरनाक प्रवृत्ति को पोषित पल्लवित किया जा रहा हो- ऐसे मुश्किल दौर में दम तोड़ती खेती और घुटते मरते किसानों पर कोई बहस संभव नहीं है। जब ठेले पर रखकर देशद्रोही होने का सर्टिफिकेट बांटा जा रहा हो- गाय, गोबर की टुच्ची बहस में देश को उलझाए रखा गया हो तब किसानों की दुर्गति तय है। किसान तबाही के मुहाने पर खड़े हैं लेकिन मोदी सरकार का राष्ट्रवाद बहुराष्ट्रीय कंपनियों के आकाओं की चरण वंदना में पलकें बिछाए लेटा हुआ है।

(लेखक सामाजिक कार्यकर्ता और टिप्पणीकार हैं)

खेती-किसानी

खेती का संकट और स्वामीनाथन की रिपोर्ट

खेती-किसानी का संकट आजकल आम चर्चा का विषय है। मजदूर वर्ग की बेहद खराब हालत पर पूरी तरह से चुप्पी साधने वाला पूंजीवादी प्रचारतंत्र भी इस संकट की कभी-कभी चर्चा किया करता है। सत्ताधारी पूंजीवादी पार्टियों की इस पर चुप ही रहती है पर विपक्षी पार्टियां उन्हें घेरने के लिए इस मुद्दे को उठाती रहती हैं। यह अलग बात है कि सत्ता में आते ही दोनों की भूमिका बदल जाती है।

जब भी खेती-किसानी के संकट की चर्चा होती है तो एम.एस.स्वामीनाथन रिपोर्ट का जिक्र जरूर आता है। कहा जाता है कि इस संकट के समाधान के लिए स्वामीनाथन रिपोर्ट को लागू किया जाना चाहिए। खासकर सरकारी वामपंथी पार्टियां इसे नारे की तरह उछालती रहती हैं।

लेकिन क्या वास्तव में ऐसा है? क्या वास्तव में इससे खेती का वर्तमान संकट हल हो जायेगा?

एम.एस.स्वामीनाथन देश के पूंजीवादी दायरे में 'हरित क्रांति' के जनक माने जाते हैं और इस दायरे में 'हरित क्रांति' का काफी ऊंचा मूल्यांकन किया जाता है। कहा जाता है कि इस 'हरित क्रांति' ने देश की खेती को एक नई दिशा दी और उसे वहां पहुंचाया जहां देश 1960 के दशक के गंभीर खाद्यान्न संकट से उबर पाया।

संप्रग सरकार जब 2004 में अस्तित्व में आई तब उसने साल के अंत में इन्हीं स्वामीनाथन के नेतृत्व में एक आयोग का गठन किया। इसे राष्ट्रीय किसान आयोग का नाम दिया गया। इस आयोग ने 2006 के अंत तक कुल पांच रिपोर्ट सरकार के सामने पेश कीं। अंत में उसने राष्ट्रीय किसान नीति का एक मसौदा भी पेश किया।

स्वामीनाथन रिपोर्ट का सारतत्व क्या है? उसकी मूल दिशा क्या है? इसे चार बिंदुओं के इर्द-गिर्द समेटा जा सकता हैः-

1- खेती योग्य जमीन का एक महत्वपूर्ण हिस्सा थोड़े से लोगों के हाथ में सिमटा हुआ है जबकि खेती से जुड़े हुए करीब चालीस प्रतिशत लोग भूमिहीन हैं। इसलिए जमीनों का बंटवारा किया जाना चाहिए। सीलिंग के ऊपर की जमीनों का तथा खाली पड़ी हुई या सरकार के पास मौजूद (सरकारी फार्म आदि) जमीनों का बंटवारा किया जाना चाहिए जिससे कम से कम एक एकड़ जमीन सबके पास मौजूद हो।

2- किसानों को अपनी फसल का उचित दाम मिले इसके लिए न्यूनतम समर्थन मूल्य की कुल लागत (खेती की लागत और जमीन का किराया या अपने मालिकाने के मामले में मध्यस्थ

ब्याज व मजदूरी या स्वयं खेती के मामले में तदमूल्य मेहनत का दाम) का पचास प्रतिशत ज्यादा दिया जाना चाहिए। इस दाम पर खरीद का सरकारी प्रबंध किया जाना चाहिए। चूंकि ऐसा करने से खाद्यान्न के दाम बढ़ सकते हैं और खाद्यान्न खरीदने वाली एक बड़ी आबादी स्वयं किसानों की ही है इसलिए कम दामों पर खाद्यान्न उपलब्ध कराने के लिए सार्वजनिक वितरण प्रणाली को मजबूत किया जाना चाहिए। इसके लिए सकल घरेलू उत्पाद का एक प्रतिशत इस पर खर्च किया जाना चाहिए (खाद्यान्न सब्सिडी)।

3- किसानों को कम ब्याज (चार प्रतिशत सालाना) पर कर्ज के साथ खेती की तकनीक, जी.एम. बीज, फसल बाजार में बेचने के लिए आधुनिक तरीकों (कमोडिटी मार्केट आदि) तक पहुंच, फसल बीमा इत्यादि उपलब्ध कराया जाना चाहिए। शहरों में खेती-क्यारी को भी बढ़ावा दिया जाना चाहिए।

4- पीढ़ी-दर-पीढ़ी विभाजन के साथ प्रति परिवार खेती का रकबा कम होता जा रहा है इसलिए एक ओर तो सहकारिता को बढ़ावा दिया जाना चाहिए, दूसरी ओर देहातों में गैर-खेती पेशों को बढ़ावा दिया जाना चाहिए। मुर्गी पालन से लेकर मछली पालने और पकड़ने इत्यादि को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए। इसी के तहत सब्जी, फल और फूलों की खेती को भी बढ़ावा दिया जाना चाहिए।

इनके साथ यह रिपोर्ट 'हरित क्रांति' के कुप्रभावों से निपटने के बारे में भी बात करती है। रसायनिक खादों, कीटनाशकों के अतिशय प्रयोग तथा भूतलपानी के बेतहाशा इस्तेमाल से उपजी समस्याओं से निपटने के लिए यह 'जैविक खेती' को तथा वर्षा के पानी को संरक्षित करने की बात करती है। यह गैर सिंचित क्षेत्रों में वर्षा के पानी के संरक्षण की बात करती है।

ऊपरी तौर पर लगता है कि यदि इस रिपोर्ट को 'ईमानदारी' से लागू कर दिया जाये तो भारत की खेती के वर्तमान संकट का समाधान हो सकता है। पर क्या वास्तव में ऐसा है? इसे क्रमवार देखें।

पहले जमीन के बंटवारे का सवाल। जब 1960 के दशक में 'हरित क्रांति' की शुरूआत हुई तो वामपंथी दायरों से इसकी सर्वप्रमुख आलोचना यही थी कि यह देश की खेती की मूलभूत समस्या का वास्तविक राजनीतिक समाधान करने के बदले एक तकनीकी समाधान करने की कोशिश है जो तत्कालीन शासक वर्ग अमेरिकी साम्राज्यवादियों के साथ मिलकर तथा किसी हद तक उनके दबाव में कर रहा था। यहां तक कि सरकारी वामपंथी भाकपा-माकपा के पार्टी दस्तावेजों में यह आज भी दर्ज मिल जायेगा।

तब खेती की मूलभूत समस्या का समाधान था जमीनों का बंटवारा। लेकिन यह एक राजनीतिक कदम था क्योंकि इसमें जमीनें पुराने बड़े मालिकों से छीनकर वास्तविक खेतिहरों को दी जातीं।

जमीनों के पुराने बड़े मालिक अंग्रेजों के जमाने से ही शासक वर्ग का हिस्सा थे और आजादी के बाद सत्तारूढ़ हुआ शासक वर्ग इनके साथ गठबंधन बनाये हुए था। देहातों में तो जमीनों का यही बड़ा मालिक वर्ग शासक वर्ग था। इनके खिलाफ कदम उठाने का मतलब था भारत के पूंजीपति वर्ग द्वारा स्वयं अपने देहाती सहयोगियों के खिलाफ भूमिहीन व गरीब किसानों को गोलबंद करना। यह गोलबंदी जिस वर्ग संघर्ष की शुरूआत करती वह आगे बढ़कर स्वयं पूंजीपति वर्ग के खिलाफ भी जा सकती थी। तब नेहरू ने इसे लगभग इन्हीं शब्दों में व्यक्त भी किया था।

इसीलिए तब भारत के पूंजीपति वर्ग ने जमीनों के बंटवारे का यह कदम नहीं उठाया। इसके लिए संसद से लेकर विधानसभाओं तक जो भी कानून बनाये गये उनमें जानबूझकर इतने छेद रखे गये कि व्यवहार में लगभग सारी ही जमीनें पुराने मालिकों के पास बनी रहीं। हां जमींदारी उन्मूलन और किरायेदारी कानून के जरिये पुराने बड़े मालिकों को इस ओर ढकेला गया कि वे खेती के पुराने सामंती तौर-तरीकों को छोड़कर नये पूंजीवादी तौर-तरीकों को अपना लें।

इसी के हिस्से के तौर पर ही 1960 के दशक के मध्य में भारत के पूंजीपति वर्ग द्वारा 'हरित क्रांति' का रास्ता अपनाया गया। यह भारत के पूंजीपति द्वारा अपने हित में अपनाया गया। एक तकनीकी रास्ता था जो एक राजनीतिक समस्या का सोचा-समझा विकल्प था। अमेरिकी साम्राज्यवादियों ने अपने हितों के तहत इसमें अपनी भूमिका निभाई। उन्हें खेती की आगतों का बाजार मिलना था। दूरगामी तौर पर यह भारत को समाजवादी रास्ते पर जाने से रोकता था।

इस तरह 'हरित क्रांति' के जनक स्वामीनाथन तब भारत के पूंजीपति वर्ग की उस परियोजना का हिस्सा थे जो वास्तव में देश को जमीनों के बंटवारे के सवाल से हटाकर दूसरे रास्ते पर ले जाती थी। यह एक सचेत कार्यवाही थी। ऐसा नहीं था कि तब भारत के पूंजीपति वर्ग की सरकार द्वारा या स्वामीनाथन द्वारा जमीनों के बंटवारे की औपचारिक चर्चा बंद कर दी गयी। यह चर्चा होती रही और आगे भी जारी रही। सरकारों द्वारा गठित तमाम आयोग इस सम्बन्ध में अपनी संस्तुतियां देते रहे। पर इनका महत्व उन कानूनों से ज्यादा नहीं था जो जमीनों के बंटवारे के सवाल पर संसद और विधानसभाओं द्वारा बनाये गये थे तथा जिनसे कुछ भी हासिल नहीं हुआ था। इसीलिए आज भी स्वामीनाथन रिपोर्ट का जमीनों के बंटवारे के सम्बन्ध में सुझाव इससे ज्यादा कारगर नहीं हो सकता। आजादी के सत्तर साल बाद आज अचानक देश का पूंजीपति वर्ग देहातों में जमीनों के बंटवारे का वर्ग संघर्ष नहीं छेड़ सकता। खासकर तब और भी नहीं जब पूरी व्यवस्था में संकट गहराया हुआ हो और पूंजीवादी पार्टियों के प्रति लोगों में गहरी नफरत का भाव हो। यदि महात्मा गांधी, नेहरू और पटेल यह करने की हिम्मत नहीं जुटा पाये तो यह हिम्मत किसी नरेंद्र मोदी और किसी राहुल गांधी में कहां से आ जायेगी?

लेकिन फर्ज कीजिए कि किसी में भी ऐसा साहस आ गया तो? यदि भाकपा-माकपा इतनी ताकतवर होकर सत्ता में आ गई तो?

तो यही होगा कि सारे लोगों को स्वामीनाथन के हिसाब से कम से कम एक एकड़ जमीन मिल जायेगी। पर इससे क्या होगा? आज एक परिवार के पास दो एकड़ सिंचित उपजाऊ जमीन भी महज उसके स्वपोषण का माध्यम बनकर रह गयी है। इससे यह तो हो सकता है कि लोगों का शहरों में पलायन रुक जाये पर यह देहातों की भंयकर कंगाली को समाप्त नहीं कर सकता। पूंजीवाद में हमेशा से ही छोटी व मध्यम खेती घाटे का सौदा रही है। यह स्व-पोषण का माध्यम रही है जिसमें बाजार के मेकेनिज्म के जरिये पूंजीपति वर्ग खेती में पैदा हुआ मुनाफा लूट लेता रहा है। उदारीकरण, वैश्वीकरण के दौर में यह बेतहाशा हो रहा है। बिना इस व्यापक प्रक्रिया पर लगाम कसे इस लूट को नहीं रोका जा सकता और स्वामीनाथन रिपोर्ट उदारीकरण, वैश्वीकरण के व्यापक फ्रेमवर्क में ही बात करती है इसलिए वह इसकी गति पर जरा भी अंकुश नहीं लगा सकती।

यहीं से दूसरे बिंदु पर आया जाये। कहा जा सकता है कि स्वामीनाथन रिपोर्ट न्यूनतम समर्थन मूल्य, सरकारी खरीद व्यवस्था, सार्वजनिक वितरण प्रणाली या खाद्यान्न सब्सिडी इत्यादि के बारे में जो बात करती है वह प्रकारांतर से खेती के मामले में उदारीकरण-वैश्वीकरण की प्रक्रिया पर रोक लगा देती है। इस तरह यह खेती और किसानों की बेहतरी की ओर ले जाती है। पर क्या यह सही है?

भारत विश्व व्यापार संगठन का सदस्य है और विश्व व्यापार संगठन वैश्वीकरण, उदारीकरण की व्यवस्था का एक पूरा ढांचा पेश करता है। इसका सदस्य रहते इस ढांचे से बाहर नहीं आया जा सकता। खेती-किसानी के मामले में यह ढांचा खासकर बहुत कठोर है। इसी के कारण पिछले ढाई दशकों में भारतीय खेती और भी ज्यादा संकट में फंसती गयी है। खेती को पूरी तरह से राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय बाजार के हवाले कर देना, खेती पर सब्सिडी खत्म कर देना तथा सार्वजनिक वितरण प्रणाली को खत्म कर देना सब इसी का हिस्सा है।

सवाल यह है कि क्या भारत का बड़ा पूंजीपति वर्ग खेती-किसानी की खातिर विश्व व्यापार संगठन से बाहर आ जायेगा? क्या उदारीकरण-वैश्वीकरण के दौर में वह देश और दुनिया में जो बेतहाशा लूट कर रहा है, उसे छोड़ देगा? यहां तक कि इसके जरिये वह जो देहातों में लूट कर रहा है, उसे छोड़ देगा? देहातों की भयंकर बदहाली का अंततः उसे ही तो सबसे ज्यादा फायदा हो रहा है।

और यदि देश का बड़ा पूंजीपति वर्ग यह सब नहीं चाहेगा तब फिर इसकी सरकार यह सब क्यों करेगी? देश का बड़ा पूंजीपति वर्ग ही असल में सत्ता में काबिज है। उसके हितों के खिलाफ सरकार कैसे जा सकती है?

कहा जा सकता है कि कभी-कभी सरकारें पूरी व्यवस्था के हित में शासक वर्गों के खिलाफ भी जा सकती हैं। अपवादस्वरूप स्थितियों में ऐसा हो भी सकता है। पर यदि ऐसा हो भी गया तो किसे फायदा होगा?

अभी तक न्यूनतम समर्थन मूल्य, सरकारी खरीद व्यवस्था, सहकारिता और सरकारी सब्सिडी का सारा फायदा धनी किसान और पूंजीवादी फार्मर उठाते रहे हैं। आज भी जब खेती के संकट की बात होती है तो असल में यह प्रमुखतः छोटी-मझोली खेती का ही संकट है। धनी किसान और खासकर पूंजीवादी फार्मर उतने संकटग्रस्त नहीं हैं। बल्कि वे तो छोटे-मझोले किसानों के संकट से फायदा ही उठा रहे हैं। वे देहातों में दुकानदार, साहूकार और आपूर्तिकर्ता के रूप में छोटे-मझोले किसानों को लूट रहे हैं।

ऐसे में यह आगे भी क्यों नहीं होगा कि समर्थन मूल्य, सरकारी खरीद इत्यादि का फायदा पहले की तरह धनी किसान और पूंजीवादी फार्मर ही उठायें? क्या इससे बचने के लिए सरकार खेती के उत्पादन के समस्त खरीद-बेच का जिम्मा ले लेगी? उदारीकरण के दौर मेंे क्या खेती के उत्पादों पर पूर्ण सरकारी नियंत्रण कायम हो जायेगा? या सरकार इस मामले में कोई विभेदीकरण की नीति अपनायेगी? यदि गरीबों का राशन भी अन्य तरीकों से पूंजीपति हड़प लेते हैं तो छोटी-मझोली खेती को सरकारी राहत भी धनी किसान और पूंजीवादी फार्मर क्यों नहीं हड़प लेंगे? यह काम जमीनों को सीलिंग से बचाने से ज्यादा आसान होगा।

इस तरह स्पष्ट है कि छोटे-मझोले किसानों को राहत सम्बन्धी योजनाएं या तो उदारीकरण-वैश्वीकरण के इस दौर में लागू नहीं की जा सकतीं या फिर इसका फायदा पहले की तरह धनी किसान व पूंजीवादी फार्मर ही उठा लेंगे। छोटी-मझोली किसानी का संकट पहले की तरह जारी रहेगा। पूंजीवाद में पूंजी द्वारा खेती में छोटी-मझोली किसानी की तबाही को किसी कानून या सरकारी योजना से नहीं रोका जा सकता है।

जहां तक तीसरे बिंदु की बात है। उसके प्रावधानों का हस्र भी उपरोक्त से ज्यादा बेहतर नहीं होगा। यदि किसानों को कम ब्याज पर कर्ज, फसल बीमा तथा अन्य तकनीकी सुविधाएं मिलती हैं तो इसका फायदा कौन उठायेगा? पिछले समयों में जब भी कर्ज माफी हुई तो उसका फायदा बड़े किसानों ने उठाया। इसी तरह बैंकों और सहकारिताओं से सारे कर्ज का फायदा ये ही उठाते हैं। छोटे-मझोले किसानों को तो बस जूठन ही नसीब होती है। समाज की वर्गीय संरचना और सत्ता संरचना को देखते हुए इससे भिन्न की उम्मीद नहीं की जा सकती।

रही चौथे बिंदु की बात तो खेती से अलग-अलग, भांति-भांति के व्यवसाय देहातों में बिना सरकारी प्रोत्साहन के ही फल-फूल रहे हैं। वे देहातों में पूंजीवादी विकास का तो परिणाम हैं ही स्वयं छोटी-मझोली किसानी की तबाही का भी परिणाम हैं। ज्यादातर व्यवसाय मरता क्या न करता के तहत चल रहे हैं। वे छिपी बेरोजगारी की अभिव्यक्ति हैं और स्व-शोषण का भयंकर

नमूना। यदि उन्हें प्रोत्साहित करने के लिए सरकारी योजनाएं बनायी जाती हैं तो स्वभावतः ही इन योजनाओं का फायदा धनी किसान और पूंजीवादी फार्मर उठायेंगे। बस इतना ही होगा कि वे स्व रोजगार के बदले इनके मजदूर बन जायेंगे।

इसके अलावा सहकारिता, स्वसहायता समूह, जैविक खेती तथा वर्षा जल के संरक्षण इत्यादि की जितनी बातें हैं वे गैर सरकारी संगठन मार्का बातें हैं जिनकी आजकल सभी सरकारी व गैर सरकारी दस्तावेजों में खूब चर्चा होती है, पर जिनका वास्तव में कोई मतलब नहीं होता। ये वे अच्छी बातें होती हैं जो अच्छा अहसास पैदा करने के लिए दस्तावेजों में दर्ज की जाती हैं।

कुल मिलाकर यह कि स्वामीनाथन आयोग की संस्तुतियों को या तो देश-दुनिया के वर्तमान हालात में लागू नहीं किया जा सकता या फिर उनका वह परिणाम कतई नहीं निकलेगा जिनकी रिपोर्ट तैयार करने वालों को या इसके मुरीदों की उम्मीद होगी। उदारीकरण-वैश्वीकरण के वर्तमान दौर में केवल उसको कतर-ब्यौंत करने वाली किसी भी नीति या योजना का अपेक्षित परिणाम नहीं निकलेगा। अपेक्षित परिणाम पाने के लिए इन नीतियों को समूचे तौर पर ही बदलना पड़ेगा। यह वास्तव में एक क्रांति की मांग करता है। पर यह क्रांति तब इतने पर ही क्यों रुकेगी? पूंजीवादी व्यवस्था के संकट के इस काल में उदारीकरण-वैश्वीकरण के खिलाफ शुरू हुई कोई क्रांति स्वयं पूंजीवादी व्यवस्था के खिलाफ क्यों नहीं जायेगी? बिना इसके क्या वह अपना अभीष्ट हासिल कर सकती है।

भारत में खेती का संकट प्रमुखतः छोटी-मझोली खेती का संकट है। इस संकट का समाधान संकटग्रस्त लुटेरू पूंजीवाद के दायरे में नहीं है। इसका समाधान इस पूंजीवाद के खात्मे और उसके बाद समाजवादी व्यवस्था की सामूहिक खेती में ही है। मजदूर वर्ग को अपने छोटे-मझोले किसान भाइयों को हर तरीके से यही समझाना होगा। कोई स्वामीनाथन, कोई नरेंद्र मोदी या कोई राहुल गांधी उनका तारनहार नहीं हो सकता।

('नागरिक' से साभार)

इकनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली का हिंदी प्रोजेक्ट

संपादकीय एक : असहयोगात्मक संघीय ढांचा

वित्त आयोग एक संवैधानिक संस्था है। संसाधनों के बंटवारे के मामले में यह केंद्र और राज्यों के बीच एक मध्यस्थ है। आयोग का मूल काम केंद्र सरकार की करों का केंद्र और राज्यों के बीच बंटवारे का तरीका सुझाना है। ताकि केंद्र और राज्य संविधान की सातवीं सूची के मुताबिक अपनी जिम्मेदारियों का निर्वहन कर सकें। वित्त आयोग ने यह काम बखूबी किया है और इससे इसकी प्रतिष्ठा भी कायम हुई है। भारत के संघीय ढांचे की यह एक खासियत है कि इसमें एक स्वतंत्र वित्त आयोग का प्रावधान है। इस आयोग ने देश के संघीय ढांचे को मजबूत करने का काम किया है। आयोग का सौंपे गए काम टर्म ऑफ रिफरेंस में दर्ज रहते हैं। 15वें वित्त आयोग को सौंपे गए कार्यों की सूची पर विवाद चल रहा है। कुछ राज्यों को इस पर एतराज है। आयोग ने 2011 के बजाए 1971 की जनसंख्या को आधार बनाया है। माना जा रहा है कि इससे कुछ राज्यों को कम हिस्सा मिलेगा। यह भी कहा जा रहा है कि टर्म ऑफ रिफरेंस केंद्र सरकार की ओर झुका हुआ है। अगर 15वें वित्त आयोग को लेकर एक संतुलित राय नहीं अपनाई गई तो यह टर्म ऑफ रिफरेंस संघीय ढांचे को ध्वस्त करके केंद्र और राज्यों के बीच आदेश और नियंत्रण का संबंध विकसित करने वाला साबित हो सकता है। योजना आयोग के खत्म होने के बाद यह पहला वित्त आयोग है, इसलिए इसे संसाधनों के बंटवारे के मामले में व्यापक दृष्टिकोण अपनाना चाहिए।

14वें वित्त आयोग ने पहली बार संसाधनों और खर्चों पर व्यापक दृष्टिकोण अपनाते हुए 42 फीसदी हिस्सा राज्यों को आवंटित किया था। 14वें वित्त आयोग ने 2015-16 से लेकर 2019-20 तक के आकलन के हिसाब से केंद्र सरकार को इतने संसाधन दिए हैं कि वह अपनी जिम्मेदारियां निभा सके जबकि 15वें वित्त आयोग को यह कहा गया है कि वह इस बात का अध्ययन करे कि राज्यों को अधिक हिस्सेदारी से केंद्र सरकार की माली हालत पर क्या असर पड़ रहा है और इससे नया भारत-2022 के विजन पर क्या असर पड़ रहा है। यह नया भारत-2022 क्या है? क्या वह सरकार जिसका कार्यकाल 2019 में खत्म हो रहा है, वो वित्त आयोग को 2022 तक संसाधन रोककर रखने के लिए कह सकती है जिसे नई सरकार को किसी और सरकार के विजन के क्रियान्वयन के लिए खर्च करना हो। एक ऐसे संघीय ढांचे में जहां केंद्र और राज्यों द्वारा किए जाने वाले कुल खर्च का 52 फीसदी राज्य खर्च करते हों, वहां एक राष्ट्रीय विकास एजेंडा तैयार करके राज्यों को दिया जाने वाला पैसा रोकना ठीक है? इस टर्म आॅफ रिफरेंस का परिणाम स्पष्ट है। केंद्र सरकार अधिक वित्तीय स्वायत्ता की व्यवस्था को पलटना चाह रही है और राज्यों के संसाधनों पर अधिक नियंत्रण रखना चाह रही है।

अनुच्छेद-275 के तहत राज्यों को मिलने वाले अनुदान से राज्यों की वे आर्थिक जरूरतें पूरी होती हैं जो राजस्व बंटवारे से नहीं हो पातीं। वित्त आयोग को इस बात की भी पड़ताल करनी है कि क्या राजस्व घाटे के लिए सभी को अनुदान दिया जाना चाहिए या नहीं। अगर आयोग इसे खत्म कर देती है तो फिर वैकल्पिक व्यवस्था क्या होगी? आयोग को यह भी सुनिश्चित करना है कि राजस्व बंटवारे के बाद किसी राज्य का कोई घाटा न रहे। यह एक तरह से आयोग पर इस बात के लिए दबाव बनाना है कि वह राज्यों के अवास्तविक राजस्व अनुमानों और जरूरतों को सही ठहराए।

टर्म ऑफ रिफरेंस कई तरह की शर्तों पर आधारित है। इसमें यह भी लिखा है कि आयोग राज्यों के लिए प्रदर्शन आधारित प्रोत्साहन की सिफारिश पर विचार कर सकता है। इस बारे में कई सवाल हैं। क्या आयोग राज्यों के प्रदर्शन को मापने और उन्हें प्रोत्साहन देने के लिए सही संस्था है? अगर करों का बंटवारा प्रोत्साहन पर आधारित होगा तो वित्तीय बराबरी हासिल करने के लक्ष्य का क्या होगा? अगर यह लक्ष्य अनुदान के जरिए हासिल किया जाना है तो क्या इससे करों के बंटवारे से मिलने वाले संसाधन कम नहीं होंगे? केंद्र सरकार द्वारा प्रोत्साहन और अनुदान गैर वित्त आयोग अनुदानों के जरिए दिया जाना चाहिए। वित्त आयोग के कामकाज को क्यों प्रभावित किया जा रहा है?

अंत में कर्ज, घाटा और वित्तीय जिम्मेदारियों के सवाल आते हैं। राज्य वित्तीय तौर पर दूरदर्शी हैं। सभी राज्यों का वित्तीय घाटा 2017-18 के बजट अनुमानों में 2.7 फीसदी है। ऐसे में 15वें वित्त आयोग के जरिए राज्यों को दिए जाने वाले कर्ज पर कोई शर्त लगाने से विकास पर उनके खर्च की क्षमता पर नकारात्मक प्रभाव पड़ेगा। केंद्र सरकार से अपना वित्तीय प्रदर्शन सुधारने के लिए कहना चाहिए, राज्यों से नहीं। हमें यह याद रखना चाहिए कि केंद्र सरकार ने वित्तीय जिम्मेदारी और बजट प्रबंधन कानून, 2008 का पालन नहीं किया।

इकनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली का हिंदी प्रोजेक्ट

संपादकीय दो : सरकारी विश्वविद्यालयों का जीवन-मरण

मध्यकालीन दौर के इतिहासकार मिनहाज-ए-सिराज ने लिखा है कि 12वीं सदी के अंत तक पूर्वी भारत के कुछ हिस्सों पर कब्जा जमाने वाले बख्तियार खिलजी ने बिहार के किले पर हमला किया। किले को कब्जे में लेने के बाद उसे पता चला कि यहां बड़ी संख्या में ब्राह्मण रहते हैं और यहां काफी किताबें हैं। इसके बाद उसे पता चला कि उसने सिर्फ किला नहीं जीता बल्कि एक विश्वविद्यालय पर कब्जा किया है।

दक्षिणपंथी विचारक तबाकत-ए-नसीरी के इस वाकये की व्याख्या गलत ढंग से करते हैं। वे इसे प्राचीन विश्वविद्यालय के विध्वंस के तौर पर देखते हैं। मौजूदा सरकार और उसके समर्थक कई विश्वविद्यालयों को राष्ट्र-विरोध के केंद्र के तौर पर देखते हैं। पिछले साल जब जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में करगिल विजय दिवस पर कार्यक्रम आयोजित हुए तो सेवानिवृत्त सैन्य अधिकारी जीडी बख्शी ने कहा कि जेएनयू पर कब्जा जमाने के बाद अब सरकार को हैदराबाद केंद्रीय विश्वविद्यालय और जादवपुर विश्वविद्यालय को काबू में करना चाहिए। पिछले दिनों केंद्र सरकार ने अपने मंसूबे छात्रों पर पुलिस से लाठियों की बरसात कराके जाहिर कर दिए। ये छात्र यौन शोषण के खिलाफ प्रदर्शन कर रहे थे। भारतीय विश्वविद्यालयों में सरकारी हस्तक्षेप कोई नया नहीं है लेकिन अभी जिस तरह से विश्वविद्यालयों पर हमले हो रहे हैं, वैसा पहले कभी नहीं हुआ।

सरकारी विश्वविद्यालयों के मूलतः दो काम हैं। पहला यह कि ज्ञान की मौजूदा सीमाओं का विस्तार करना। इसके तहत मौजूदा ज्ञान और सत्ता प्रतिष्ठानों को संशय की दृष्टि से देखना स्वाभाविक है। दूसरा काम यह है कि यहां से जो नागरिक निकलें वे चिंतन करें और जिम्मेदार रहें। इसका मतलब यह हुआ कि छात्रों को सवाल उठाने का प्रशिक्षण दिया जाना अनिवार्य है। ऐसे में सरकारी विश्वविद्यालयों की मूल मध्यस्थ आम जनता है न कि सरकार। कई बार विश्वविद्यालय उस समय की सरकार की विचारधारा की वाहक लगने लगती हैं लेकिन इनका मूल काम यह है कि सरकारों के हर निर्णय का आलोचनात्मक आकलन हो। इससे सत्ता में बैठे लोगों की सतत निगरानी होती है। जिन चीजों को यह सरकार 'राष्ट्र विरोधी' कहती है वह विश्वविद्यालयों की मूल जिम्मेदारी है। अगर सरकार पर सवाल उठाने के लिए किसी विश्वविद्यालय को राष्ट्र विरोधी कहा जा रहा है तो उसे इसे सहर्ष स्वीकार करना चाहिए। इसे तो नैशनल एसेसमेंट ऐंड एक्रीडिशन काउंसिल द्वारा दिए गए अंकों से भी अधिक महत्व देना चाहिए।

लोकतंत्र में विश्वविद्यालयों और सरकार का अन्योनाश्रय संबंध है। विश्वविद्यालयों का काम ऐसे ज्ञान का सृजन है जिसके आधार पर सरकार जन कल्याण के लिए नीतियां बना सके। सरकारी

विश्वविद्यालयों का काम यह भी है कि वे भविष्य के जन सेवकों को प्रशिक्षित करें, लेकिन मौजूदा सरकार विश्विद्यालयों को तहस-नहस करने में लगी हुई है।

यह सरकार की जिम्मेदारी है कि वह विश्वविद्यालयों का बगैर किसी भय के ठीक से काम करना सुनिश्चित करे। कोई भी सरकार विश्वविद्यालयों को स्वायत्तता देकर उस पर अहसान नहीं करती। यह लोकतंत्र की रक्षा करने की सरकार की जिम्मेदारी का हिस्सा है। स्वायत्तता बढ़ाने के क्रम में नियमन होता है लेकिन पाठयक्रम और शोध एजेंडा थोपना इसका हिस्सा नहीं है। न ही सत्ताधारी पार्टी के लोगों को विश्वविद्यालय में प्रमुख पदों पर बैठाना इसका हिस्सा है। सरकार की यह जिम्मेदारी है कि विश्विद्यालयों को पर्याप्त फंड मुहैया कराए ताकि ये विश्वविद्यालय बाजार की ताकतों के गुलाम न बन सकें। इसके अलावा सरकार की जिम्मेदारी यह भी है कि वह हर वर्ग के लोगों में विश्वविद्यालयों में जगह देकर सामाजिक न्याय सुनिश्चित करे ताकि विश्वविद्यालय प्रभावशाली वर्ग का केंद्र बनकर न रहें।

अभी स्वायत्तता देने के नाम पर जो हो रहा है, वह इस भावना के खिलाफ है। यह नागरिकों के प्रति हर जिम्मेदारी से भागने जैसा है। ग्रेडेड स्वायत्ता देने की जो घोषणा मानव संसाधन विकास मंत्री ने की है, वह शिक्षा क्षेत्र पर सरकारी खर्च को बंद करने का माध्यम है। इसका मतलब यह हुआ कि आर्थिक तौर पर स्वावलंबी होने के लिए विश्वविद्यालयों की बाजार की मांग के हिसाब से चलना होगा। यह न सिर्फ सरकारी विश्वविद्यालयों पर हमला है बल्कि एक लोकतांत्रिक सरकार और समाज के बीच के सामाजिक अनुबंध की भी अवहेलना है।

कहा जाता है कि नालंदा विश्वविद्यालय के पुस्तकालय को जलाने में तीन महीने लगे थे। अभी भी देश के सरकारी विश्वविद्यालय एक दिन में ध्वस्त नहीं होंगे। छात्र और शिक्षक इन कोशिशों के खिलाफ लड़ रहे हैं, लेकिन सरकार की मंशा के प्रति कोई संदेह नहीं है। अगर सरकार यह सोचती है कि ऐसा करके वह मतदाताओं को बेवकूफ बना देगी तो भी उसे इतिहास में तिरस्कार की नजर से ही देखा जाएगा।

प्रसंगवश

मोदी का 'भूख शतक'! तीन साल में 'हंगर इंडेक्स' में भारत 55 से 100 पर!

हम सब मंदी की बात कर रहे हैं जबकि वैश्विक भूख सूचकांक में भारत 2014 में 55वें स्थान से 100वें स्थान पर आ चुका है। तीन साल में 45 स्थान नीचे– इतना तेज विकास मोदी के अलावा कौन कर सकता था? विश्व की सबसे तेज अर्थव्यवस्था!

एशिया में मात्र अफगानिस्तान और पाकिस्तान भारत से नीचे हैं, नेपाल, बांग्लादेश तो ऊपर हैं ही, लम्बे वक्त से युद्धग्रस्त इराक और प्रतिबंधों का शिकार उत्तर कोरिया भी भारत से बेहतर है| भारत में 21% बच्चे कुपोषण ग्रस्त हैं, दुनिया में तीन और देश हैं मुकाबले में।

अर्थव्यवस्था पर चर्चा जब सिर्फ जीडीपी और शेयर बाजार के सन्दर्भ में होती है तो यह भुला दिया जाता है कि एक वर्ग विभाजित समाज में (जहाँ 10% लोग 81% संपत्ति के मालिक हों) जीडीपी, मुनाफों और शेयरों की कीमतों में यह वृद्धि शेष 90% जनता के मुँह से खाने का निवाला छीनकर, उनके श्रम से पैदा उत्पाद के मूल्य का अधिकांश पूंजीपतियों द्वारा कब्ज़ा लेने से ही होती है।

सच्चाई यही है कि नवउदारवादी आर्थिक नीतियों के दौर में अधिकांश जनता के लिए अनाज, दाल-सब्जी, फल, दूध और अन्य पोषक पदार्थों की उपलब्धता (खरीदने की क्षमता) में भारी कमी आई है– उत्पादन चाहे बढे या घटे। पिछले सालों में यह प्रक्रिया और तेज हुई है। पहले इस पर नजर रखने के लिए एक नुट्रिशन मॉनिटरिंग ब्यूरो नाम की संस्था होती थी, मोदी सरकार ने उसकी रिपोर्टों से घबराकर 2015 में उसे बंद ही कर दिया।

नवउदारवादी नीतियां अधिकांश लोगों के जीवन में जिस तरह की विपत्ति और बरबादी ला रही हैं, उसके चलते पूंजीपति वर्ग अब जनतंत्र, बोलने और विरोध की आजादी के अवशेष और प्रहसन को भी झेल पाने की स्थिति में नहीं है इसलिए उसे फासीवादी राजनीति को बढ़ावा देने के अतिरिक्त कोई रास्ता नहीं।

(मुकेश असीम)

सत्तर साल में पहली बार: बैंक बोर्ड से बेदख़ल हुए कर्मचारी और अधिकारी!

'दि हिंदू' अख़बार में एक ख़बर आई थी कि वर्तमान में किसी पब्लिक सेक्टर बैंक के बोर्ड में कर्मचारियों और अधिकारियों का कोई प्रतिनिधित्व अब नहीं रहा। आधुनिक प्रबंध शास्त्र में पार्टिसिपेटरी मैनेजमेंट (सहभागिता आधारित प्रबंध) को एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इस सिद्धांत के अनुसार लोकतांत्रिक प्रक्रिया अपनाते हुए किसी भी संस्था में मातहतों को निर्णय की प्रक्रिया में शामिल किया जाता है, उनको अधिकार दिया जाता है जिससे हर कर्मचारी ज़िम्मेदारी के साथ अपना कार्यनिष्पादन कर सके। पूरी दुनिया में संस्थाओं के बेहतर प्रबंधन, विवाद-मतभेद समाधान, कर्मचारियों के कल्याण आदि में सहभागिता आधारित प्रबंध की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। इस मसले पर मुम्बइया फिल्म उद्योग में तमाम फ़िल्में बनी हैं लेकिन बस कम्पनियों के सामन्तवादी व्यवहार को दिखाने के लिए और बोनस आदि को लेकर मज़दूरों के आन्दोलन को दिखाने के लिए। इस पर कभी गम्भीर बहस हुई ही नहीं।

पूरी दुनिया में सहभागिता आधारित प्रबंध को ध्यान में रखकर कानून बनाकर लागू किया गया है। भारत में भी इस अवधारणा को लागू करने के लिए कई कानून बनाए गए हैं। इन क़ानूनों में सबसे महत्वपूर्ण क़ानून है 1949 का औद्योगिक विवाद अधिनियम। राष्ट्रीयकृत बैंकों के बोर्ड के गठन के सम्बन्ध में भी इस तरह के क़ानूनी प्रावधान हैं जिसके तहत बैंकों में काम करने वाले कर्मचारियों और अधिकारियों को बोर्ड में शामिल किया जा सके। बैंक के बोर्ड में कर्मचारियों और अधिकारियों का प्रतिनिधित्व सुनिश्चित करने में बैंककर्मियों के आन्दोलनों की भी प्रमुख भूमिका रही है।

बैंककर्मियों को बोर्ड में प्रतिनिधित्व मिलने के बाद उन्हें और बैंक को इसका कितना लाभ मिला इसका मूल्यांकन कभी नहीं किया गया। सरसरी तौर पर यह देखा जा सकता है कि बोर्ड में आने के बाद बैंककर्मियों के प्रतिनिधि अपने बैंक प्रबंधन के ज़्यादा नज़दीक आए और उनका व्यवहार बहुत कुछ मैनेजमेंट की तरह हो गया। बैंक बोर्ड में उनकी भूमिका धीरे धीरे कम होती गई, उनकी उपस्थिति मात्र कानून की भरपाई करती रही। बैंककर्मी आंदोलन भी धीरे धीरे कमज़ोर होता गया। बैंककर्मियों के काम करने के हालात बद से बदतर होते गए और ये प्रतिनिधि इन बातों को मैनेजमेंट के सामने या तो प्रभावशाली तरीक़े से नहीं रख पाए या उसको लागू नहीं करा पाए। बैंक प्रबंधन इसका फ़ायदा उठाकर कानून की पूर्ति करते हुए अपनी मनमानी करते रहे जिसके कारण आज बैंक मुसीबत में हैं।

परिस्थितियों पर नज़र रखने वालों और बैंककर्मी नेताओं का कहना है कि सरकार कोई ख़तरा नहीं उठाना चाहती। बैंकों का विलय उसकी कार्यसूची में महत्वपूर्ण स्थान पर है। बैंकों के विलय में कोई विवाद न हो इसलिए बोर्ड से विलय प्रस्ताव सर्वसम्मति से पास कराना चाहती है।

बैंककर्मियों का कोई भी प्रतिनिधित्व बैंकों के विलय के किसी भी एजेंडा पर अपनी प्रतिकूल टिप्पणी देकर विलय प्रक्रिया में अड़ंगा डाल सकता है।

इस प्रकार एक विधिसम्मत लोकतांत्रिक मैनेजमेंट कार्यप्रणाली को तिलांजलि देने की तैयारी की जा चुकी है। किसी भी दिन बैंकों के विलय की प्रक्रिया शुरू की जा सकती है और उस पर सवाल उठाने के लिए बैंकों के बोर्ड में कोई नहीं होगा। सरकार पहले ही कह चुकी है कि बैंकों के विलय का प्रस्ताव बैंक के बोर्ड से आना चाहिए, सरकार कोई दख़लंदाज़ी नहीं करेगी। कमोबेश इसी तरह का बयान तब पिछली कांग्रेस सरकार के वित्तमंत्री ने भी दिया था। बैंक बोर्ड में विलय के प्रस्ताव पर सवाल नहीं उठेगा। विलय का प्रस्ताव पास होकर सरकार के पास आएगा। सरकार मंज़ूर करेगी। अगर विलय में कोई अड़चन आई या विलय असफल हुआ तो ठीकरा भी बैंक बोर्ड पर फोड़ा जाएगा।

यह ख़तरनाक होगा क्योंकि बैंक बोर्ड बिना कोई विचार-बहस के प्रस्ताव पारित करेंगे। इसका ख़ामियाज़ा बैंक और अर्थव्यवस्था को तो उठाना पडेगा, कर्मचारियों और अधिकारियों के हक़ पर भी कुठाराघात होगा। बैंककर्मी आंदोलन जो कमज़ोर हो चुका है उसे फिर से अपनी ज़मीन तलाशनी होगी। बैंक बोर्ड में उनकी क़ानूनी हाज़िरी का फ़ायदा उठाकर बैंक और सरकार अपनी सारी असफलता का ठीकरा बैंक कर्मियों पर फोड़ती रही हैं। हाल के समय में फेसबुक आदि मीडिया पर बैंककर्मी अपनी तकलीफ़ों को रख रहे हैं लेकिन दुर्भाग्य कि कोई मीडिया उनपर ध्यान नहीं दे रहा है। बैंक कर्मी आज हताशा की हालत में काम कर रहे हैं।

बैंकों का विलय हो लेकिन जल्दीबाज़ी में नहीं बल्कि पूरी बहस और मूल्यांकन के बाद। सरकार जितना भी सतर्कता बरत ले, विलय असफल होने पर आलोचना तो सरकार की ही होगी।

(कुमार सुभाष)

ऐतिहासिक ऊंचाई पर तेल के दाम

पेट्रोल डीजल की क़ीमतें अपने उच्चतम स्तर को छू रही हैं। केंद्र सरकार उस पर कर लगा कर अपना खजाना बढ़ा रही है। तर्क यह दिया जाता है कि शिक्षा स्वास्थ्य ओर अन्य कल्याणकारी योजनाओं पर खर्च इसी रकम से पूरा किया जा रहा है, यानी देश के मध्यम वर्ग पर टैक्स का बोझ बढ़ा कर इन योजनाओं का खर्च पूरा किया जा रहा है लेकिन सारा बोझ मध्यवर्ग पर क्यो डाला जा रहा है, उच्च वर्ग और कारपोरेट की भागीदारी इसमें क्यो नही है, यह इसलिए तो नही है कि बड़े उद्योगपति राजनीतिक दलों को भारी चंदा देते हैं?

इस तथ्य को जानकर बहुत से लोगों को आश्चर्य होगा लेकिन सच यही है कि सरकार नोटबन्दी जैसे निर्णय कर हर व्यक्ति को आयकर के दायरे में खींच लेना चाहती है लेकिन बड़ी कम्पनियो को तरह तरह के टैक्स में छूट देती है। जानी-मानी अर्थशास्त्री जयंती घोष ने दिल्ली में एक प्रेस कॉन्फ्रेंस कर बड़े उद्योगपतियों को दी जाने वाली कर माफ़ी पर सवाल उठाते हुये कहा था कि कर संग्रह और कर का दायरा बढ़ाने के लिए सरकार को नोटबंदी जैसे अर्थव्यवस्था को तबाह करने वाले कदम उठाने की जरूरत नहीं थी। उन्होंने कहा था कि देश में कर की उच्चतम दर 30 प्रतिशत है जबकि अडानी अंबानी जैसे उद्योगपति 20 प्रतिशत कर दे रहे हैं।

अंबानी जैसे बड़े उद्योगपतियों की कर माफी पर सवाल उठाते हुये उन्होंने कहा कि पिछले साल उद्योगों को दी गयी कर छूट, सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) का 6.7 प्रतिशत पर रही जबकि वित्तीय घाटा इससे काफी कम रहा था। यानी सिर्फ इसी रकम से पूरे वित्तीय घाटे की भरपाई हो सकती थी। आपको शायद जयती घोष की इन बातों पर यकीन नही होगा लेकिन यह सच है, इसकी पुष्टि अन्य स्रोतों से भी आप कर सकते है।

इंडियास्पेंड ने ये आंकड़े प्रकाशित किये हैं–

साल 2015-16 में मोदी सरकार ने कॉरपोरेट सेक्टर को लगभग 76 हजार 857 करोड़ 7 लाख रुपए की टैक्स छूट प्रदान की थी। वित्त मंत्री अरुण जेटली ने फरवरी 2015 में पेश बजट में कॉरपोरेट कर दर को चार साल में 30% से घटाकर 25% करने की घोषणा की थी जबकि राजस्व सचिव हसमुख अधिया ने एक बार कहा था कि कंपनी कर में 1% कटौती करने से राजस्व में 18,000 से 19,000 करोड़ रुपये की कमी आती है।

इंडियास्पेंड की रिपोर्ट नेशनल टैक्स डेटा के अनुसार, वित्त वर्ष 2015-16 में मोदी सरकार ने 15 हजार 80 मुनाफा कमाने वाली कंपनियों से किसी प्रकार का भी टैक्स नहीं लिया है। सरकार ने ऐसा कर चुकाने वालों को प्रोत्साहित करने के नाम पर किया. कुछ कंपनियों ने मुनाफा तो कमाया पर सरकार की 'टैक्स इंसेंटिव पॉलिसी' का फायदा उठा कर किसी प्रकार का टैक्स नहीं चुकाया। इतना ही नहीं सरकार ने निजी कंपनियों को 2 लाख 25 हजार 229 करोड़ रुपये का

टैक्स छूट भी दिया। देश में 10 लाख ऐसी कंपनियां हैं जिन्होंने आज तक इनकम टैक्स रिटर्न नहीं भरा है।

केंद्र में मोदी सरकार को आए तीन साल से भी ज्यादा समय बीत गए हैं पर इनकम टैक्स डिपार्टमेंट ने इन विसंगतियों को अभी तक दूर नहीं किया है। साल 2014-15 में 52 हजार 911 कंपनियां मुनाफ़े में थी, लेकिन किसी ने भी टैक्स का भुगतान नहीं किया। इसके साथ साल 2015-16 में बड़ी कंपनियों ने छोटी कंपनियों से भी कम टैक्स चुकाया। अब यह बड़ी कम्पनियाँ किस उद्योगपति की होंगी, आसानी से अंदाजा लगाया जा सकता हैं।

सरकार के आंकड़े के मुताबिक 46 फीसदी भारतीय कंपनियों ने 2015-16 में कोई मुनाफा नहीं कमाया। साल 2015-16 में कम से कम 43 फीसदी भारतीय कंपनियां घाटे में रही हैं। 47.7 फीसदी कंपनियों ने 1 करोड़ रुपए तक का मुनाफा कमाया है। टैक्स डेटा के अनुसार, करीब 6 फीसदी भारतीय कंपनियों ने 1 करोड़ रुपए से अधिक मुनाफा दर्ज कराया है। पटना कॉलेज के पूर्व प्राचार्य और देश के जाने-माने अर्थशास्त्री प्रोफेसर नवल किशोर चौधरी कहते हैं, 'देखिए इससे साफ हो रहा है कि सरकार पावरफुल लोगों को रहत दे रही है। जो पावरफुल लोग नहीं हैं, उन पर टैक्स का अतिरिक्त बोझ दे रही है।'

यानी बड़े कॉरपोरेट को मोदी सरकार कर माफी के नाम पर बेजा फायदा पहुंचा रही है, औश्र उस कर माफी का पूरा भुगतान पेट्रोल डीजल पर बढ़ते हुए कर द्वारा आम जनता से वसूला जा रहा है। इतना सब जान लेने के बाद भी आपके दिमाग की बंद खिड़की नहीं खुल रही है तो क्या कहा जा सकता है!

(गिरीश मालवीय)

लोन के 'राइट ऑफ' के नाम पर ये क्या चल रहा है?

वित्त राज्य मंत्री शिव प्रताप शुक्ल ने यह जानकारी सदन में दी कि देश के सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों ने वित्तवर्ष 2014-15 से सितंबर 2017 तक 2.47 लाख करोड़ का एनपीए लोन राइट ऑफ कर दिया है।

ये किसका पैसा है जो बड़े उद्योगपतियों को कर्जे के रूप में दिया जाता है और फिर राइट ऑफ के बहाने माफ कर दिया जाता है? यह हमारे आपके खून पसीने की कमाई है जिसे पेट्रोल डीजल पर टैक्स बढ़ा-बढ़ा कर वसूला जाता है और एक दिन सरकार सदन में कहती है कि वो पैसे तो आप भूल जाइए, वह तो राइट ऑफ कर दिया गया है और यही सरकार किसानों से कर्जे की पाई पाई वसूलना चाहती है! क्या आपने कभी सुना कि ट्रैक्टर से कुचले जाने वाले किसान ज्ञानचंद का कर्ज राइट ऑफ कर दिया गया?

सारा खेल इस सुंदर से शब्द राइट ऑफ में छुपा दिया जाता है। कोई बैंक किसी कर्ज को तभी "राइट ऑफ" करता है, जब उसकी वसूली बहुत मुश्किल हो जाए यानी "राइट ऑफ" से सीधा अर्थ ऐसे कर्ज से है जो रिकवर नहीं हो पा रहा है। और हमें यह तक नहीं बताया जाता कि किस-किस उद्योगपति का कितना कितना लोन राइट ऑफ किया है। यह बात पूछने पर कानून कायदे झाड़ दिए जाते हैं।

2017 में जेटली बोलते हैं मोदी सरकार ने एक रुपए भी कर्ज माफ नहीं किया है तो आज ये क्या है? तीन साल के भीतर 2.47 लाख करोड़ आपने राइट ऑफ कर दिया। जितना कुल बीस साल में नहीं किया गया होगा उतना आपने तीन साल में कर दिखाया? इतने बड़े कर्ज का बैंकों को वापस न लौटना अर्थव्यवस्था के लिए विनाशक साबित होने जा रहा है।

आप इसे और सीधे शब्दों में समझिये। जब 2017 में माल्या के कर्जे के बारे में पूछा गया तो अरुण जेटली ने कहा था कि वह कर्जा माफ नहीं किया गया है, उसे राइट ऑफ कर दिया गया है। अब माल्या पर कुल 9000 करोड़ का कर्जा था। इसका अर्थ यह हुआ कि इन तीन साल में माल्या सरीखे 27 लोग और पैदा हो गए लेकिन हम उनके बारे में कुछ नहीं जानते?

यहाँ तक कि 2016 में सुप्रीम कोर्ट ने रिजर्व बैंक को निर्देश दिया कि वह उसे उन लोगों के नाम बताए जिन्होंने बैंकों की 500 करोड़ से ज्यादा की रकम डकार ली और जो इसके बाद भी ऐशो आराम की जिंदगी जी रहे हैं, लेकिन किसे जानने में रुचि है?

यदि SC/ST एक्ट में जरा सी छेड़छाड़ की बात सामने आ जाए तो पूरे भारत में आग लग जाती है, सरकार दबाव में आकर तुरन्त पुनर्विचार याचिका दाखिल करती है. लेकिन जब हमारे पैसा

इन उद्योगपतियों को फ्री में दे दिया जाता है तो हम ये तक नहीं पूछते कि इस तरह के राइट ऑफ करने के फैसले पर आखिरी मुहर लगाता कौन है?

इंडियन एक्सप्रेस अखबार ने एक बार इन 28 बैंकों से आरटीआइ के तहत यह सवाल पूछा कि 100 करोड़ या उससे ज्यादा के कर्ज को बट्टे खाते में डाल दिया जाए, इस पर आखिरी फैसला किसका था? कौन सी समिति बनी? उसके कितने मेम्बर थे? उसमें ये निर्णय कैसे लिया गया? कुछ तो बताओ!

सारे बैंको ने गोलमोल से जवाब दे दिए दिए। जैसे स्टेट बैंक ऑफ इंडिया ने कहा, उसके मुताबिक यह मंजूरी 'संबंधित समिति की विवेकाधीन शक्ति' के अनुसार दी जाती है पर यह नहीं बताया कि विवेकाधीन शक्ति से क्या आशय है? क्या ऐसी समितियां स्थायी होती हैं या फिर अलग-अलग मामलों से निपटने के लिए अलग-अलग समितियां बनती हैं?

दरअसल इतने मूर्खतापूर्ण ढंग से ये बैंकिंग सिस्टम डिजाइन किया गया है कि इस प्रक्रिया के लिए कोई तय नीति ही नहीं है।

आप तो बस एक बात समझ लीजिए कि न कोई 2जी घोटाला बड़ा है न कोई कोल ब्लॉक घोटाला बड़ा है... देश का सबसे बड़ा घोटाला इस तरह के एनपीए लोन को राइट ऑफ कर देना है.

(गिरीश मालवीय)

राजस्थान: पांच सौ रुपये की दिहाड़ी दिलाने का झांसा देकर ग्रामीणों पर किया ड्रग ट्रायल

राजस्थान की राजधानी जयपुर के मालपाणी अस्पताल से ड्रग ट्रायल का एक सनसनीखेज मामला सामने आया है जहां कुछ गरीब युवकों को काम का झांसा देकर उन पर विदेशी दवाओं का अवैध तरीके से परीक्षण किया गया है।

दैनिक भास्कर के मुताबिक चुरू जिले के डिगारिया गांव से लाए गए 21 लोगों में से 12 लोग अपने गांव लौट चुके हैं। चुरू से लाए गए ग्रामीणों ने बताया कि पलास गांव के शेरसिंह ने उनसे संपर्क किया था और कहा था कि अस्पताल में एक कैंप लगाया जाना है। उसके काम के लिए चलना है। एक दिन के 500 रुपये, खाने-पीने और रहने का बंदोबस्त भी होगा।

गांववालों ने आगे बताया, 'केवल कैंप का काम और अन्य सुविधाओं को देखते हुए गांव से हम 21 लोग आ गए। हमें एक वार्ड में रोका गया। 19 अप्रैल को सुबह करीब 10 बजे चाय-नाश्ता दिया गया और करीब 11:30 बजे एक-एक टैबलेट यह कहते हुए दी गई कि इस दवा से थकान दूर होगी और खाना आराम से पच जाएगा।'

पत्रिका की रिपोर्ट के अनुसार, मालपाणी अस्पताल में बहुराष्ट्रीय दवा कंपनियों द्वारा विकसित दवा का रोगियों पर ड्रग ट्रायल करने के लिए अस्पताल प्रबंधन ने 28 ग्रामीणों को 500 से 1000 रुपये तक की दिहाड़ी तक का झांसा देकर भर्ती किया और अनजान टैबलेट दी।

दैनिक भास्कर की रिपोर्ट के अनुसार, जिन लोगों ने दवा ली, उन्हें चक्कर, उल्टी, नींद, बेहोशी और पेशाब नहीं आने की शिकायत हो गई। डॉक्टरों को कहा गया तो उन्होंने कहा कि थोड़ी देर में सब ठीक हो जाएगा। बाद में अन्य लोगों पर भी दवा लेने के लिए दबाव बनाया गया, लेकिन वे किसी बहाने से अस्पताल से निकल गए।

इसके बाद ग्रामीणों ने ही अस्पताल की इस करतूत का खुलासा किया। ग्रामीणों ने इसकी सूचना सुजानगढ़ में हेल्पलाइन चलाने वाले विमल तोषलीवाल को दी। इसके बाद ग्रामीण एकजुट होकर मीडिया के सामने आए और आप बीती सुनाई।

हालांकि पत्रिका से बातचीत में अस्पताल के निदेशक एनके मालपाणी आरोपों को निराधार बताते हुए कहते हैं, 'हमने रोगियों से सहमति ली है. हम तो मानव सेवा का काम कर रहे हैं। किसी दवा का ट्रायल ही नहीं होगा तो वह बाजार में आएगी कैसे?'

वे आगे कहते हैं, 'हमारा अधिकृत ट्रायल सेंटर है। कहीं कोई फर्जीवाड़ा नहीं है। ट्रायल में अक्सर कंपनी पैसे देती ही है। पैसा हम नहीं रखते हैं, इसलिए ग्रामीणों को दिए।'

अस्पताल के संचालक अंशुल मालपाणी ने दैनिक भास्कर को बताया कि डॉ. राहुल सैनी अस्पताल में क्लीनिकल ट्रायल के इंचार्ज हैं। वे ही ड्रग ट्रायल कर रहे थे। तो वहीं डॉ. सैनी का कहना है, 'हमारे यहां क्लीनिकल ट्रायल की जाती है, इसीलिए लोग यहां आए। वे किसके जरिए लाए गए, इसकी हमें जानकारी नहीं है।'

वे आगे बताते हैं, 'ग्लेक्सो कंपनी की दवा का ऑस्टियो आर्थराइटिस का ट्रायल होना था, लेकिन वह शुरू नहीं हुआ था। हमने कोई दवा नहीं दी। ये लोग झूठ बोल रहे हैं। हम दवा देने से पहले स्क्रीनिंग करते हैं और पता करते हैं कि मरीज को दवा दी जा सकती है या नहीं। इसके बाद ट्रायल करते हैं। तबीयत बिगड़ने की स्थिति नहीं आती।'

वहीं भरतपुर शहर से लाए गए चार लोगों में से फतेह और भागीरथ ने बताया कि भरतपुर का ही महावीर उन्हें काम दिलाने के लिए लेकर आया था। उसने एक दिन का 1000 रुपये दिलाने का आश्वासन दिया था।

भास्कर से बातचीत में महावीर ने कहा, 'मैं उनको आईपीएल मैच दिखाने के लिए लाया था। उसका एक दोस्त विष्णु अस्पताल में ही काम करता है, इस कारण सबको अस्पताल में रोका गया।

हालांकि महावीर को मैच कब होगा इसकी भी जानकारी नहीं थी। पूछे जाने पर कि मैच कब होगा, उसने जबाव दिया, 'जब भी होगा, तब देख आएंगे। इसलिए तब तक यहां आ गए।'

गौरतलब है कि ड्रग ट्रायल एक व्यक्ति पर दवा के प्रभावों को जानने का एक तरीका होता है। इसके लिए अस्पताल को सबसे पहले क्लीनिकल एथिकल कमेटी की अनुमति की जरूरत होती है। कमेटी में डॉक्टर, वकील और समाजसेवी शामिल होते हैं।

वहीं, जिस व्यक्ति पर जिस दवा का ट्रायल होना है, वह व्यक्ति उस दवा से संबंधित बीमारी का मरीज होना आवश्यक है। ट्रायल से पहले डॉक्टर और दवा कंपनी के अधिकारी को उस दवा के बारे में मरीज को सारी जानकारी देनी होती है। मरीज की अनुमति के बाद ही ट्रायल किया जा सकता है।

(भाषा)

नोटबंदी के बाद बैंकों को मिले सबसे ज़्यादा जाली नोट, संदिग्ध लेन-देन के मामले भी बढ़े : रिपोर्ट

नोटबंदी के बाद देश के बैंकों को सबसे अधिक मात्रा में जाली नोट मिले, वहीं इस दौरान संदिग्ध लेन-देन में भी 480 प्रतिशत से भी अधिक का इज़ाफ़ा हुआ। 2016 में नोटबंदी के बाद संदिग्ध जमाओं पर आई पहली रिपोर्ट में यह खुलासा किया गया है।

रिपोर्ट में कहा गया है कि सार्वजनिक और निजी क्षेत्र के अलावा सहकारी बैंकों तथा अन्य वित्तीय संस्थानों में सामूहिक रूप से 400 प्रतिशत अधिक संदिग्ध लेन-देन रिपोर्ट (एसटीआर) किए गए। इस लिहाज़ से 2016-17 में कुल मिलाकर 4.73 लाख से भी अधिक संदिग्ध लेन-देन की सूचनाएं प्रेषित की गईं।

फाइनेंशियल इंटेलीजेंस यूनिट यानी वित्तीय आसूचना इकाई (एफआईयू) की ओर से जारी रिपोर्ट के अनुसार, बैंकिंग और अन्य आर्थिक चैनलों में 2016-17 में जाली मुद्रा लेन-देन के मामलों में इससे पिछले साल की तुलना में 3.22 लाख का इज़ाफ़ा हुआ। समाचार एजेंसी पीटीआई/भाषा के पास रिपोर्ट की प्रति उपलब्ध है।

वित्तीय आसूचना इकाई केंद्रीय वित्त मंत्रालय का हिस्सा होती है, जो वित्तीय तंत्र को मनी लॉन्ड्रिंग, आतंकवाद के वित्तपोषण और अन्य आर्थिक अपराधों से सुरक्षा के लिए गुणवत्ता पूर्ण सूचना उपलब्ध कराती है।

बहरहाल, रिपोर्ट में कहा गया है कि यह मामला प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी द्वारा 8 नवंबर, 2016 को 500 और 1,000 के नोटों को बंद करने की घोषणा से जुड़ा है।

इसमें कहा गया है कि जाली मुद्रा रिपोर्ट (सीसीआर) की संख्या 2015-16 के 4.10 लाख से बढ़कर 2016-17 में 7.33 लाख पर पहुंच गई। यह सीसीआर का सबसे ऊंचा आंकड़ा है। पहली बार सीसीआर 2008-09 में निकाला गया था।

सीसीआर 'लेन-देन आधारित रिपोर्ट' होती है और यह तभी सामने आती है जबकि जाली नोट का पता चलता है।

एफआईयू के मनी लॉन्ड्रिंग नियमों के अनुसार, बैंकों और अन्य वित्तीय निकायों को उन सभी नकद लेन-देन की सूचना देनी होती है, जिनमें जाली करेंसी नोटों का इस्तेमाल असली नोट के रूप में किया गया हो या फिर मूल्यवान प्रतिभूति या दस्तावेज़ के साथ धोखाधड़ी की गई हो। हालांकि, रिपोर्ट में ऐसी जाली मुद्रा का मूल्य नहीं बताया गया है।

संदिग्ध लेन-देन रिपोर्ट तब निकाली जाती है जबकि लेन-देन किसी असामान्य परिस्थिति में होता है और इसके पीछे कोई आर्थिक तर्क या मंशा नहीं होती। इस अवधि में ऐसे मामलों की संख्या में 400 प्रतिशत से अधिक की बढ़ोतरी हुई।

वित्त वर्ष 2016-17 में 4,73,000 एसटीआर प्राप्त हुईं, जो 2015-16 की तुलना में चार गुना है। रिपोर्ट में कहा गया है कि इसके पीछे प्रमुख वजह नोटबंदी ही है।

एसटीआर निकालने के मामले सबसे अधिक बैंकों की श्रेणी में सामने आए। इनमें 2015-16 की तुलना में 489 प्रतिशत की बढ़ोतरी हुई। वित्तीय इकाइयों के मामले में यह बढ़ोतरी 270 की रही। सभी बैंकों और वित्तीय संस्थानों के लिए एसटीआर निकालना ज़रूरी होता है जिसे मनी लॉन्ड्रिंग रोधक क़ानून के तहत एफआईयू को भेजा जाता है।

रिपोर्ट में कहा गया है कि नोटबंदी के बाद सामने आई कुछ एसटीआर का संभावित संबंध आतंकवाद के वित्तपोषण से है।

(भाषा)

एयर इंडिया को हुए नुकसान के लिए किसे जवाबदेह ठहराया जाए: लोक लेखा समिति

लोक लेखा समिति (पीएसी) के कुछ सदस्यों ने एयर इंडिया के विनिवेश पर सवाल उठाए और जानना चाहा कि केंद्र सरकार द्वारा संचालित इस एयरलाइंस को हुए भारी नुकसान के लिए किसे जवाबदेह ठहराया जाना चाहिए।

पीएसी की एक बैठक में उन्होंने एयर इंडिया और इंडियन एयरलाइंस के विलय के बाद इसे एक ही इकाई बनाने के फैसले के बावजूद एयर इंडिया में अपनी हिस्सेदारी बेचने के सरकार के फैसले पर सवाल उठाए।

सूत्रों ने बताया कि बैठक में भाजपा सांसद निशिकांत दुबे ने एयर इंडिया और नागरिक उड्डयन मंत्रालय के अधिकारियों से पूछा कि 'विमानन सेवा को हुए भारी नुकसान के लिए किसे जवाबदेह क़रार दिया जाना चाहिए।'

उन्होंने बताया कि विनिवेश का विरोध करने वालों ने जानना चाहा कि ऐसे वक़्त में ऐसा निर्णय क्यों किया जा रहा है जब एयरलाइन सकारात्मक परिणाम दिखा रहा है।

कांग्रेस के वरिष्ठ नेता और लोकसभा सांसद मल्लिकार्जुन खड़गे पीएसी के अध्यक्ष हैं। इस समिति में सत्तारूढ़ एवं विपक्षी पार्टियों के सदस्य शामिल होते हैं।

मालूम हो कि केंद्र सरकार एयर इंडिया में अपनी 76 प्रतिशत हिस्सेदारी निजी क्षेत्र के किसी चुनिंदा ख़रीदार को बेचने का निर्णय कर चुकी है। खरीदने वाली कंपनी को इस एयरलाइन का प्रबंधन भी सौपा जाएगा।

क़र्ज़ में डूबी एयर इंडिया की विनिवेश प्रक्रिया शुरू की जा चुकी है। इस क्रम में प्राथमिक सूचना ज्ञापन भी जारी किया जा चुका है।

इसके साथ ही सरकार ने एयर इंडिया एक्सप्रेस में अपनी 100 प्रतिशत और विमानपत्तन सेवा कंपनी एयर इंडिया सैट्स एयरपोर्ट सविर्सेज प्राइवेट लिमिटेड (एआईएसएटीएस) संयुक्त उद्यम में अपनी 50 प्रतिशत की पूरी हिस्सेदारी बेचने का भी फैसला कर लिया है।

उधर, भाजपा के वरिष्ठ नेता सुब्रमण्यन स्वामी ने केंद्र सरकार से मांग की कि एयर इंडिया की हिस्सेदारी की बिक्री 2019 के आम चुनाव के बाद के लिए टाल दी जाए। उन्होंने उड्डयन राज्यमंत्री जयंत सिन्हा को हटाने की भी मांग की।

उनका यह बयान राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के प्रमुख मोहन भागवत की बीते सोमवार को की गई उस टिप्पणी के बाद आया है कि एयर इंडिया का प्रबंधन और नियंत्रण किसी भारतीय कंपनी के पास ही रहना चाहिए। उन्होंने सरकार को 'देश के नभ क्षेत्र के स्वामित्व और नियंत्रण को खोने' के प्रति सावधान रहने को कहा।

स्वामी ने बीते मंगलवार को एक ट्वीट में कहा, 'मैं सरसंघ चालक मोहन भागवत की एयर इंडिया की बिक्री को लेकर समय पर दी गई चेतावनी का स्वागत करता हूं. मेरी नमो (नरेंद्र मोदी) को सलाह है कि इस बिक्री के प्रस्ताव को उन्हें 2019 के चुनाव के बाद के लिए टाल देना चाहिए. साथ ही जयंत सिन्हा को भी हटा देना चाहिए।'

इस संबंध में स्वामी के कार्यालय को भेजे गए संदेश और कॉल का जवाब नहीं मिला है। इस मामले में सिन्हा की ओर से तत्काल कोई प्रतिक्रिया नहीं मिल सकी।

भागवत ने कहा था, 'यदि समस्या यह है कि एयर इंडिया को ठीक से नहीं चलाया गया तो इसे किसी ऐसे हाथ में दे दो जो इसे ठीक से चला सके पर वह केवल भारतीय ही होना चाहिए।'

(भाषा)

साक्षात्कार

पहचान की चोरी है आधार का खतरा: रॉबर्ट बैपटिस्ट से बातचीत

एक फ्रांसीसी मोबाइल ऐप डेवलप करने वाले एक व्यक्ति ने ट्विटर के जरिये आधार तंत्र के सुरक्षा मुद्दों को उठाया है। हाल में इस खाते से आधार ऐप्केशन में सेंध लगाने का एक वीडियो जारी हुआ। इस ट्विटर खाते को 'इलीट एल्डर्सन' के नाम से मशहूर रॉबर्ट बैप्टिस्ट चलाते हैं। आधार से जुड़ी जानकारियों की सुरक्षा पर आम लोगों को सुझाव देने के लिए मयंक जैन ने रॉबर्ट बैप्टिस्ट से बात की

आधार को लेकर आपकी इतनी अधिक रुचि क्यों है?
मैं एक फ्रीलॉन्स एंड्रॉयड डेवलपर हूं। किसी ने मुझसे आधार ऐप देखने को कहा। उसी समय मुझे इससे जुड़ी सुरक्षा चूक और गलतियों का पता चला।

क्या आपको इस व्यवस्था में कोई बड़ी चूक मिली?
मैंने आधार ऐप की जांच की है, ना कि पूरे आधार तंत्र की। लेकिन इसमें मुझे बहुत से ऐसी सुरक्षा खामियां मिलीं, जिन्हें जल्द से जल्द ठीक किया जाना चाहिए।

क्या आपने इस बारे में यूआईडीएआई (भारतीय विशिष्ट पहचान प्राधिकरण) को बताया?
मुझे जो कुछ भी मिला, मैंने यूआईडीएआई को टैग करते हुए वह सब अपने ट्विटर खाते पर डाला है। मैंने उनसे इन मसलों पर कदम उठाने के लिए भी कहा, लेकिन उन्होंने कभी इसका जवाब नहीं दिया।

आपने ये सभी जानकारियां सार्वजनिक क्यों कीं और लोग अपना डेटा कैसे सुरक्षित रख सकते हैं?
मैं आम लोगों और सरकार की डेटा सुरक्षा में मदद करना चाहता था। मैं बताना चाहता था कि सुरक्षा के मुद्दे को इतने हल्के में नहीं लेना चाहिए। आधार का डेटा सुरक्षित रखने के लिए लोगों को जानकारियां साझा करते हुए सावधानियां बरतनी होंगी। उन्हें देखना होगा कि वे थर्ड पार्टियों से कौन कौन सा डेटा साझा कर रहे हैं।

इन खतरों को देखते हुए आधार कितना सुरक्षित है?
सबसे बड़ी समस्या यह है कि थर्ड पार्टी कंपनियां आधार के आंकड़े इकट्ठा कर रही हैं। विभिन्न कंपनियों को आधार के आंकड़े दिए जा रहे हैं लेकिन इनमें से कई कंपनियों का सुरक्षा स्तर काफी कमजोर है। नागरिकों के लिए यह एक गंभीर मामला हो सकता है।

इन सुरक्षा चूक से लोगों को कोई बड़ा खतरा हो सकता है?
पहचान की चोरी इसका सबसे बड़ा खतरा है।

क्या इस समस्या को दूर करने के लिए आप प्राधिकरण के साथ काम करने को तैयार हैं?
इन मामलों के निपटारे के लिए मैं किसी भी प्राधिकरण या संस्था के साथ काम करने को तैयार हूं। यही मेरा लक्ष्य है। मैं उनसे बात करना चाहता हूं और कोई बड़ी गड़बड़ी होने से पहले ही यह सब ठीक करने में मदद करना चाहता हूं।

आप अपनी खोज से क्या संदेश देना चाहते हैं?
ऐप में छेड़छाड़ करके आप पासवर्ड सुरक्षा को समाप्त कर सकते हैं। एक ऐप डेवलपर के लिए यह काफी आसान काम है। इसके बाद हम किसी भी व्यक्ति की आधार से जुड़ी जानकारी ले सकते हैं और उसकी नकली प्रतिलिपि बना सकते हैं।

आपको डर लगता है कि आधार तंत्र से जुड़ी खामियों को उजागर करने पर आपके खिलाफ कानूनी कार्रवाई ना हो जाए?
अगर मैं इससे डरता तो यह सब नहीं कर रहा होता।

(बिज़नेस स्टैंडर्ड से साभार)